# रोगोंकी नयी चिकित्सा

लूई कूनेकी

**New Science of Healing**

का

भावानुवाद

●
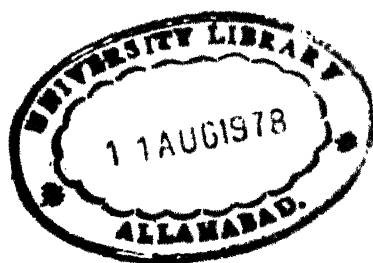
आरोग्य-मंदिर-प्रकाशन

मुख्य विक्रेता : सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली

प्रकाशक
आरोग्य-मंदिर,
गोरखपुर

मुद्रक
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस,
इलाहाबाद

# विषय-सूची

# भूमिका

यद्यपि प्राकृतिक चिकित्साका जन्म कूनेके बहुत पहले हो चुका था। विंसेंट प्रिसनिज, फादर क्नाइप, जे० स्कॉथ, अरनॉल्ड रिक्ली, हेनरिच लेमैन आदि प्राकृतिक चिकित्सक, प्राकृतिक चिकित्साका प्रयोग सफलतापूर्वक कर चुके थे और इसका संदेश भी संसारको दे चुके थे; पर हिंदुस्तानमें प्राकृतिक चिकित्सा कूनेकी इस पुस्तक 'रोगोंकी नयी चिकित्सा' (दि न्यू साइंस ऑव हीलिंग) के साथ आयी। उत्तर भारतमें पहले-पहल इसका अनुवाद उर्दू और हिंदीमें मुरादाबादके श्रीश्रोत्रियजी कृष्ण स्वरूपने किया और इसके बाद साहू रामकुमार तथा अन्य कई व्यक्तियोंने। श्रोत्रियजी और साहू रामकुमारजी तो कूनेकी पद्धतिके प्रबल समर्थक भी थे। इन लोगोंने स्वयं इससे लाभ उठाया तथा औरोंको भी लाभ पहुंचाया था और आज ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या सैकड़ोंमें है जो कूनेकी पद्धतिद्वारा लोगोंको लाभ पहुंचा रहे हैं और ऐसे लोगोंकी संख्या तो हजारोंमें है जिन्होंने कूनेकी इस पुस्तकको पढ़कर लाभ उठाया है। वस्तुतः कूनेकी पद्धति इतनी सरल और भारतीय जलवायुके इतनी अनुकूल है कि इसको छोड़कर कोई भी चिकित्सक प्राकृतिक चिकित्सा सफलतापूर्वक चला भी नहीं सकता और न कोई अन्य पद्धति इतनी सरलतासे हर घरमें चलायी ही जा सकती है।

मैंने कूनेकी पद्धतिसे स्वयं बहुत लाभ उठाया है और यह पद्धति आज भी आरोग्य-मंदिरकी चिकित्साकी रीढ़ बनी हुई है। साहित्यिक दृष्टिसे भी प्राकृतिक चिकित्साके मूल सिद्धांत 'रोगोंकी एकरूपता' का इस पूर्णतासे विवेचन करनेवाली दूसरी पुस्तक अभीतक लिखी ही नहीं जा सकी। अतः हर रोगी और प्राकृतिक चिकित्साके हर विद्यार्थीके लिए इसकी उपयोगिता आज भी पूरी-पूरी बनी हुई है।

कूनेसे परिचित होनेके बादसे ही इसका एक सरल, स्पष्ट और अच्छा

छपा हुआ अनुवाद प्रकाशित करनेकी मेरी इच्छा रही है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि वह इच्छा बहुत देरसे सही, पर आज पूरी हो रही है। इस अनुवादमें कूनेकी कही पूरी बातें आ जायं इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है, केवल पुनरुक्तियां कम कर दी गयी हैं।

गांधीजी कूने, जस्ट और क्नाइपकी कृतियोंको प्राकृतिक चिकित्साका मूलाधार मानते थे। वे इनका पढ़ना प्राकृतिक चिकित्साके हर एक प्रेमी-के लिए आवश्यक बताते थे। जस्टकी एकमात्र पुस्तक 'रिटर्न टू नेचर' का हिंदी अनुवाद हम 'प्राकृतिक जीवनकी ओर' के नामसे प्रकाशित कर चुके हैं। कूनेकी मूल पुस्तक 'दि न्यू साइंस ऑव होलिंग' का यह अनुवाद प्रस्तुत है। अब हो सका तो हम क्नाइपकी पुस्तक "माइ वाटर क्योर" का अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

आरोग्य-मंदिर
गोरखपुर
१४-२-५७

# रोगोंकी नयी चिकित्सा

## आविष्कारकी कहानी

मैं हमेशासे प्रकृतिका प्रेमी रहा हूं। खेतों और जंगलोंमें, आकाश और पृथ्वीपर प्रकृति माता अपने कार्य कैसे करती है इसका अध्ययन करनेका मुझे सदा विशेष चाव रहा है। चिकित्सकका काम तो मुझपर परिस्थितिवश आ पड़ा।

बीस सालकी उम्रमें ही मेरा शरीर जर्जर हो गया, मेरे फेफड़ों और सिरमें भयंकर दर्द रहने लगा। पहले मैंने डाक्टरोंसे इलाज कराया, पर बेफायदा। डाक्टरोंमें मेरा विश्वास था भी नहीं। मेरी मां सदा बीमार रहती थीं और वे अपनी सारी पीड़ाओंका कारण दवाओंको ही ठहराती थीं। वे हमेशा हमें समझाया करती थीं कि डाक्टरोंसे दूर ही रहना। मेरे पिताजी भी डाक्टरोंकी दवा करते-करते आमाशयिक कर्कटिका (कैंसर) से मरे थे।

इन्हीं दिनोंकी बात है। मुझे पता चला कि एक जगह प्राकृतिक चिकित्साके प्रेमियोंका एक जलसा होनेवाला है। मैं वहां गया और हिम्मत करके एक भाईसे अपने फुफुसोंके दर्दका इलाज पूछा। मुझे सीनेकी गीली पट्टी बतायी गयी। उससे मुझे लाभ हुआ। मेरे भाईने बीमार पड़नेपर 'हान' नामक प्राकृतिक चिकित्सकसे चिकित्सा करायी और कुछ ही सप्ताहोंमें अच्छा होकर घर वापस आ गया। हानके कुदरती इलाजके तरीकेकी तारीफ मैं पहलेसे ही सुनता आ रहा था। इस प्रत्यक्ष प्रमाणने प्राकृतिक चिकित्सापर मेरी आस्था जमा दी।

मेरा रोग अभी जड़से नहीं गया था। मुझे विरासतमें अपने पितासे

मिले रोगके कीटाणु डाक्टरोंद्वारा मेरे शरीरमें डाली गयी दवाओंका सहारा पाकर तेजीसे बढ़ रहे थे। दशा दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। पिताजीकी तरह मेरे आमाशयमें भी कर्कटिका पैदा हो गयी थी, फुफ्फुस अंशतः नष्ट हो गये थे, सिरकी नाड़ियां हमेशा उत्तेजित रहतीं और ठंढी हवामें ही मुझे कुछ आराम मिलता। नींद तो आती ही न थी। मैं कोई काम करने लायक नहीं था। यों मैं देखनेमें मोटा-ताजा था, गालोंपर लाली भी थी, पर मेरी नस-नसमें रोगोंने घर कर रखा था। मैंने उस समय प्रचलित प्राकृतिक चिकित्साके अनुसार स्नान, गीली पट्टियाँ, एनिमा आदिका प्रयोग किया, पर दर्द कभी-कभी मिट जानेसे अधिक कुछ नहीं हुआ। इसी दशामें प्रकृतिके अध्ययनद्वारा मैंने उन नियमों-को जाना जो मेरी चिकित्साके आधारस्तंभ हैं। मैंने अपनेपर इन नियमों-की आजमाइश की और अपनी चिकित्साके कामके टब वगैरह बनाये। मेरा प्रयोग काफी सफल रहा और मेरी दशा सुधरती गयी। मेरी सफ-लता देखकर मित्रों एवं संबंधियोंने भी मुझसे परामर्श कर अपना इलाज शुरू किया और इन्हें जो लाभ हुआ उससे उन्हें बहुत संतोष हुआ।

पर इसका बाहरी लोगोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैंने जिसे भी अपने सिद्धांत बताये उसीने मेरी हँसी उड़ायी। पुराने प्राकृतिक चिकित्स-कोंसे मैंने अपनी विधि आजमानेकी सिफारिश की पर उन्होंने भी मेरी प्रार्थनापर कोई ध्यान नहीं दिया। ऐसी दशामें मेरे लिए लोगोंपर अपनी चिकित्साविधिका प्रयोग करके एलोपैथी, होमियोपैथी आदिपर इसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके अलावा और कोई चारा ही नहीं रहा।

इस विचारने मेरे सामने एक समस्या खड़ी कर दी। अपने विचारों-के अनुसार काम करनेके मानी यह होते कि मैं अपना कारखाना बंद कर दूं जो चौबीस वर्षोंसे अच्छी तरह चल रहा था। बिना कारखाना बंद किये मैं रोगियोंकी चिकित्सामें पूरा समय नहीं लगा सकता था। वर्षों तर्क और भावनाके बीच संघर्ष चलता रहा। अंतमें भावनाकी जीत हुई। मैंने अक्तूबर सन् १८८३ में अपना जल-चिकित्सालय खोल दिया। पहले

सालोंतक मेरे पास कोई रोगी नहीं आया, फिर धीरे-धीरे कुछ रोगी, खासकर दूसरे शहरोंसे, आने लगे और जब मेरे यहांसे नीरोग होकर गये हुए लोगोंने रोगियोंको भेजना शुरू किया तो मेरे पास रोगियोंकी भरमार हो गयी। निदानकी मेरी नयी पद्धति आकृति-विज्ञान तथा मेरी चिकित्सा-विधि हजारों रोगियोंपर सफल हुई और बहुतसे लोगोंको तो मैंने उनको भविष्यमें होनेवाले रोगोंकी सूचना देकर बहुत बड़े कष्टोंसे बचा लिया।

मेरा अपना स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया। इसमें मेरे अपने आविष्कार मेहनस्नानने बहुत मदद की। मेरा विश्वास है कि इस स्नानकी मददसे हर रोग अच्छा किया जा सकता है। खयाल रहे कि मैं हर रोग कहता हूं, हर रोगी नहीं। जब शरीर जर्जर हो जाता है, विशेषतः जब वर्षों दवाओंका प्रयोग करते रहनेपर शरीर दवाके तरह-तरहके जहरोंसे भर जाता है और शरीरके अंगोंकी इन जहरोंको निकालनेकी शक्ति चली जाती है, तब मेरा तरीका केवल तकलीफ मिटा सकता है, रोगीको बचाने या पूर्णतः स्वस्थ करनेका काम नहीं कर सकता।

यदि एलोपैथीसे प्राकृतिक चिकित्साकी तुलना की जाय तो दोनोंमें सिर्फ इतनी समता है कि दोनोंका विषय मानव-शरीर है। वैसे तो मेरा खयाल है कि आज जो खोजनेसे भी स्वस्थ आदमीका मिलना मुश्किल हो गया है उसका कारण एलोपैथीद्वारा दवाके रूपमें शरीरमें डाला जानेवाला विष ही है। जीर्ण रोगोंकी वृद्धिका कारण भी ये दवाएं ही हैं। चीर-फाड़ भी अस्वस्थता बढ़ानेमें खास तौरसे सहायक हो रहा है। अगर समयपर प्राकृतिक चिकित्साकी सहायता ली जाय तो इसकी जरूरत ही न रहे।

हां, हम होमियोपैथीको औषधवादके विरुद्ध एक जिहाद कह सकते हैं। इसमें दवाका कम-से-कम प्रयोग एवं भोजनका नियंत्रण 'रोगोंकी नयी चिकित्सा' के निकट पहुंचनेकी सीढ़ी माना जा सकता है। यों मेरा अनुभव यह है कि होमियोपैथीकी गोलियां कितनी भी छोटी क्यों न हों

वे खतरेसे खाली नहीं हैं। इसके अलावा इस पद्धतिका भोजनके संबंधमें कोई स्पष्ट मत भी नहीं है।

मेरे आविष्कारोंके पहले भी प्राकृतिक चिकित्साकी जो विधि प्रचलित रही हैं वह दूसरी चिकित्सा-पद्धतियोंसे कहीं श्रेष्ठ है। मेरे आविष्कार उन्हींके आधारपर हुए हैं। मैंने प्रिसनिज, स्क्राथ, रास, थोडरहान—जैसे प्राकृतिक चिकित्साके महान् उन्नायकोंका ही अनुसरण किया है, औरोंका नहीं। दूसरे तो प्राकृतिक चिकित्साको अपना निजी आविष्कार सिद्ध करनेकी धुनमें प्रकृतिके सरल मार्गसे दूर जा पड़े और उसे बेमतलव पेचीदा और अस्वाभाविक बनानेकी कोशिशमें लगे रहे।

पिछले खेवेके प्राकृतिक चिकित्सकोंकी सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि वे रोगके रूपको नहीं पहचान सके—वे यह न जान सके शरीरमें विजातीय द्रव्य किस तरह स्थान बदलता और किसी विशेष स्थानपर आकर ठहर जाता है। इसलिए निदानके लिए उन्हें डाक्टरोंकी ही रीति अपनानी पड़ी, हाँलाकि प्राकृतिक चिकित्सकोंके लिए इस प्रकारके 'सही' निदान की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

'रोगोंकी नयी चिकित्सा' की निदान-विधि बिलकुल अपनी है। इसे 'आकृति-विज्ञान' कहते हैं। इसके जरिए मनुष्यका मुख और गर्दन देखकर रोगकी गति समझी जा सकती है।

जलके प्रयोगोंको भी मेरी विधिने बहुत आसान बना दिया है। रोगोंका स्वरूप ठीक तरहसे समझनेवालोंको पता चल जाता है कि जलकी पट्टियों; एनिमा, फुहारेका स्नान, अर्ध-स्नान, पूर्ण-स्नान एवं भापका विविध रूपोंमें इस्तेमाल अंशतः आडंबर है।

पहले प्राकृतिक चिकित्सामें साधारणतः भोजनपर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था अथवा रोगीकी पुरानी आदतों का, खयाल करते हुए कुछ थोड़ा-सा हेर-फेर कर दिया जाता था, पर मेरी रोगोंकी नयी चिकित्सा' सदा अनुत्तेजक आहार ग्रहण करनेको सिफारिश करती है जो प्राकृतिक नियमोंपर आधृत है। इस अनुत्तेजक आहारकी व्याख्या मैंने इतनी

स्पष्ट रीतिसे की है कि इसे समझनेमें किसीसे किसी तरहकी गलती होने-की संभावना नहीं है ।

अब मैं इस बातका विचार करूंगा कि कौन शरीर स्वस्थ और कौन अस्वस्थ कहलाता है। इसी सवालके जवाबपर मेरी सारी चिकित्सा-पद्धति अवलंबित है। लोगोंके विचारोंमें इस संबंधमें बड़ी-बड़ी उलझने हैं। कोई कहता है कि मैं पूर्ण स्वस्थ तो हूं; केवल जोड़ोमें वातके कारण दर्द रहता है। दूसरा कहता है, मुझे तनिक-सा नाड़ी-दौर्बल्य जरूर है, बाकी मेरी तंदुरुस्ती बिल्कुल ठीक है। ये लोग समझते हैंकि शरीर कई हिस्सोंमें बंटा हुआ है और उन हिस्सोंका आपसमें कोई ताल्लुक नहीं हैं। ताज्जुब तो यह है कि हमारे डाक्टर भी यही मानते हैं; क्योंकि जब वे किसी एक अंगके कष्टके लिए दवा देते हैं तो शायद ही कभी शरीरके दूसरे अंगके संबंधमें सोचते हों; पर इसमें क्या कोई शक है कि हमारा सारा शरीर एक है और सारे अंगोंका आपसमें अविच्छिन्न संबंध है। किसी एक अंगमें रोग होनेपर उसका असर शरीरके सारे हिस्सोंपर पड़ना अनिवार्य है। कोई भी विचारशील व्यक्ति इसे समझ सकता है। यदि आपके दांतोंमें दर्द हो जाय तो आपसे कोई काम मुश्किलसे हो पाता है और तब आपको न तो खाना अच्छा लगता है न पीना। अगर कोई एक अंगुली कट जाय तब भी यही असर होता है; आमाशयमें दर्द पैदा हो जाय तो न शारीरिक श्रम हो सकता है न मानसिक। आरंभमें ऐसी स्थिति नाड़ियोंके द्वारा तात्कालिक प्रभावके रूपमें ही पैदा की जाती है, पर सभी जानते हैं कि शरीरमें कोई एक रोग शुरू हो जानेके बाद अनेक रोग पैदा हो जाते हैं और एक रोग भी अधिक दिनोंतक बना रहे तो हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है, चाहे उसकी प्रतीति हमें हो या न हो। जब हमारे शरीरके सभी अंग अपनी स्वाभाविक अवस्थामें रहते और अपना काम बगैर किसी कष्ट, दबाव या तनावके करते हैं तभी हम शरीरको स्वस्थ कह सकते हैं। इसके अलावा शरीरके अंगोंकी बनावट भी ऐसी होनी चाहिए कि जिस कामके लिए वे बने हैं उसे वे पूर्ण रूपसे

कर सकें। उनकी काम करनेकी यह योग्यता ही उनके सौंदर्यका मापदंड है। जब शरीरका कोई अंग देखनेमें बेडौल लगे तो जानना चाहिए कि यह बेडौलपन किसी खास कारणसे आया है, पर किसी अंगको व्यक्ति-विशेषके शरीरकी बनावटका विशेष अध्ययन करनेके बाद ही बेडौल कहा जा सकता है। इसके लिए हमें पहले स्वस्थ आदमी मिलने चाहिए जिनके शरीरके अध्ययनद्वारा समझा जा सके कि शरीरके अंगोंकी स्वाभाविक बनावट क्या है। इस समय तो स्वस्थ आदमीका मिलना ही कठिन हो गया है।

कुछ लोग मोटे-ताजे कसरती पहलवानोंको स्वस्थ कह देंगे; पर उनसे पूछिए तो वे आपको बतायेंगे कि और सब तो ठीक है, केवल सिरमें अथवा दांतमें और शरीरमें कहीं कभी-कभी कुछ दर्द हो जाया करता है। इससे साबित होता है कि पूर्ण स्वास्थ्य उनसे बहुत दूर है। इस दृष्टिसे शरीरकी स्वाभाविक आकृतिको जाननेके लिए व्यापक अध्ययनकी आवश्यकता है; तथापि रोगी शरीर और अपेक्षाकृत नीरोग शरीरकी आकृतिका मिलान करके थोड़ा-बहुत जरूर समझा जा सकता है।

मैंने यह बताया है कि रोग शरीरकी स्वाभाविक आकृतिमें फर्क डाल देता है। मोटापेको लीजिए। इसमें शरीर स्थूल और गोल हो जाता है। दूसरी तरफ वे लोग हैं जो बिलकुल दुबले रहते हैं, शरीरपर कभी चर्बी नहीं चढ़ पाती। इन दोनों ही आकृतियोंके अस्वाभाविक होनेमें कोई शक नहीं है। दांत गिरनेपर मुंह पोपला हो जाता है, गठिया होनेपर जोड़ोंमें सूजन आ जाती है, वातविकारोंमें सारा शरीर सूज जाता है। इन रोगोंके कारण आकृतिमें जो परिवर्तन होता है वह इतना साफ होता है कि साधारण आदमी भी उसे समझ सकता है। कुछ रोगोंमें यह परिवर्तन उतना स्पष्ट नहीं भी होता। आप जानते हैं कि स्वस्थ आदमीकी आँख स्वच्छ एवं शांत होती हैं और उनमें किसी प्रकारके डोरे वगैरह नहीं होते, पर मनुष्यके चेहरेकी किस आकृतिको स्वाभाविक कहें यह जरा कठिनतासे समझमें आता है। जब आप किसी मित्रसे वर्षों बाद मिलते हैं तो आसानीसे आपकी समझमें

आ जाता है कि उसकी शक्लमें फर्क पड़ा है और इस परिवर्तनके कारण उसका मुंह आपको पहलेकी अपेक्षा अधिक अस्वाभाविक लगता है। यदि आपसे पूछा जाय तो आपके लिए यह बता सकना कठिन होगा कि यह अस्वाभाविकता आपको क्यों प्रतीत होती है। शरीरके इस परिवर्तनसे उसके सौंदर्यका ह्रास होता है और इस परिवर्तनका बहुत बड़ा अर्थ है जिसके बारेमें मैं आपको बताऊँगा; पर इतनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रोगके कारण शरीरकी आकृतिमें और विशेष रूपसे गर्दन और मुंहकी आकृतिमें अंतर पड़ जाता है और इस अंतरको देखना तथा समझना बहुत आवश्यक है।

यह काम कौन कितनी खूबीसे कर सकता है यह बात अलग है, पर इस चीजको ठीक तौरसे जाननेके लिए सतत साधना और लंबे समयतक यत्नशील रहनेकी जरूरत है। जो लोग आकृति-विज्ञानको गहराईसे समझना चाहते हैं उन्हें मेरी आकृति-विज्ञान पुस्तक पढ़नी चाहिए।

कौन स्वस्थ है और कौन अस्वस्थ, यह समझनेकी अब मैं एक दूसरी कसौटी आपके सामने रखता हूं।

हम जान चुके हैं कि रोग कोई भी हो अथवा कहीं भी हो, उसका असर सारे शरीरपर रहता है; अतः हम शरीरके किसी भी एक अंगकी परीक्षा करके स्वास्थ्यकी दशा समझ सकते हैं। इस जांचके लिए पाचन-प्रणालीको लें, क्योंकि इसकी परीक्षा शीघ्र पूरे तौरसे हो सकती है। पाचन ठीक है तो शरीर भी स्वस्थ है। पाचन ठीक हुआ है या नहीं, यह पाचनके बाद बचे मलके निरीक्षणद्वारा जाना जा सकता है। यदि भोजन ठीक तरहसे पचा है तो मल, मलाशयके द्वारपर चिपके बिना बाहर हो जाता है। प्रकृतिके संपर्कमें रहनेवाले पक्षियों एवं घोड़ोंमें यह बात स्पष्ट रूपमें देखी जा सकती है। मलाशयका छोर प्रकृतिद्वारा ऐसा बनाया ही गया है कि यदि वहां पहुंचनेपर मलमें उचित घनत्व हो तो वह बिना वहाँ चिपके आसानीसे बाहर हो जाता है। इस विषयपर मैंने अपनी 'मैं तंदुरुस्त हूं या बीमार ?' पुस्तकमें विस्तारपूर्वक लिखा है।

यदि मनुष्य पूर्ण स्वस्थ हो तो आबदस्तकी जरूरत न होनी चाहिए, क्योंकि उस दशामें मलाशयके द्वारपर मल लगा होगा ही नहीं।

जो उपर्युक्त दृष्टिसे स्वस्थ हो, उसे अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझना चाहिए। यों भी स्वस्थ आदमीकी तबियत बिल्कुल ठीक रहती है। यदि उसे कोई बाहरी आघात न लगे तो उसके शरीरमें कहीं दर्द या कष्ट नहीं होता। असलमें उसे अपने शरीरके होनेका ज्ञान नहीं रहता। उसे काम करनेमें आनंद आता है और जबतक उसे थकान नहीं आती उसका मन काममें लगा रहता है। थकान आनेपर वह मीठी नींदका आनंद लेता है। चिंताएं उसे नहीं घेरतीं, वह हर परिस्थितिके लिए तैयार रहता है। इसी तरह स्वस्थ माता अपने बच्चेको पिलाकर आनंद पाती है। बच्चोंका स्वयं पालन करना उसके लिए खुशीकी बात होती है।

इस प्रकार 'रोगोंकी नयी चिकित्सा' का इतिहास मेरे स्वस्थ होनेका इतिहास है। मैं बीमार पड़ा और दवाओंसे निराश होनेपर प्रकृतिप्रेमी होनेके नाते प्राकृतिक चिकित्साकी ओर झुका, पर उसे आजमानेपर उसमें अपूर्णता प्रतीत हुई। उसे पूर्ण बनानेके लिए मैंने अनेक प्रयोग किये। रोगियोंके शरीरका निरीक्षण करते-करते यह ज्ञात हो गया कि रोगीकी आकृतिमें किस प्रकार परिवर्तन होता है और स्वस्थ होनेपर वह किस प्रकार स्वाभाविक हो जाती है। रोग क्या है और वह किस प्रकार पैदा होता है, रोग कैसे और क्यों होते हैं और कैसे जाते हैं इन विषयोंकी चर्चा आगे होगी।

# रोग कैसे उत्पन्न होता है ? ज्वर क्या है ?

रोग क्या है, कैसे उत्पन्न और प्रत्यक्ष होता है, बुखार क्या है—आदि बातोंके संबंधमें लोगोंमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है। यदि रोगके स्वरूप-का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय तो उसे दूर करनेका उपाय भी आसानीसे मालूम किया जा सकता है और तब अंधेरेमें टटोलनेका कोई कारण ही नहीं रह जायगा।

कुछ रोगोंमें शरीरमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य देख पड़ता है—भले ही सबमें एक—जैसा न हो, पर होता है अवश्य। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वस्थ शरीरका एक साधारण रूप होता है और उस रूपमें परिव-र्तन रोगका ही परिणाम हुआ करता है। गर्दन और शक्लमें जो परि-वर्तन देख पड़ता है वह उदरसे आरंभ होनेके कारण उदरमें और कमरके नीचे और अधिक होता है। विजातीय द्रव्य मलमार्गोंसे बाहर न निकल सकनेपर मांसपेशियोंमें पहुँच जाता है जिससे शरीर कुछ फैल जाता है जब पेशियोंका तनाव इतना बढ़ जाता है कि वे और स्थान नहीं दे सकती तब यह द्रव्य पेशियोंकी बगलमें त्वचाके नीचे एकत्र होने लगता है। गर्दन और शक्लका परिवर्तन इसी अवस्थामें प्रत्यक्ष होता है।

गर्दन और शक्लका यह परिवर्तन, उनमें विजातीय द्रव्यका एकत्र होना इस बातका प्रमाण है कि वह शरीरके अधोभागमें अधिक मात्रामें एकत्र हुआ होगा; क्योंकि नीचे, उदरमें एकत्र होनेके बाद ही वह ऊपरकी ओर बढ़ता है। लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि गलत जगहमें एकत्र इस द्रव्यका शरीर कोई उपयोग नहीं कर सकता और यह उसका अंश नहीं है। वे यह भी नहीं जानते कि यह द्रव्य ही रोगका कारण है या रोगके ही कारण यह द्रव्य एकत्र हुआ है। गुरुत्वा-कर्षणके सिद्धान्तके अनुसार यह द्रव्य पहले शरीरके एक ही पार्श्वमें—

विशेषकर जिस करवट लोग सोया करते हैं—अधिक जमा होता है। रोगका जोर भी प्रायः उसी भागमें देख पड़ता है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह द्रव्य ही रोगका कारण है। यदि बात ऐसी न होती तो रोगका रूप सर्वत्र एक-सा होता या और भागोंमें उसका ज्यादा जोर होता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह द्रव्य शरीरका अंश न होकर विजातीय है; क्योंकि शरीरका पोषक द्रव्य एक ही स्थलपर एकत्र नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो एक ही करवट सोनेपर स्वस्थ शरीर-में भी यही बात देख पड़ती।

शरीर इस विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न बराबर करता रहता है। पसीना, फोड़े, मसूरिका आदि उसके इसी प्रयत्नके परिणाम है। रोगके दूर हो जानेपर, विजातीय द्रव्यके बाहर निकल जानेपर शरीरको बड़ा आराम मालूम होता है, वह 'स्वस्थ' हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि शरीरमें विजातीय द्रव्यका रहना ही रोग है और उसके बाहर निकलते ही रोगका आप-ही-आप अंत हो जाता है और शरीर साधारण अवस्थामें आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यह विजातीय द्रव्य शरीरमें आता कहांसे है?

शरीरमें ऐसे दो ही मार्ग हैं जिनके द्वारा कोई पदार्थ उसमें प्रवेश कर सकता है। इन मार्गोंके द्वारपर रक्षाके लिए पहरेदार तो हैं पर वे ऐसे नहीं हैं कि उन्हें कर्तव्य-पथसे विचलित न किया जा सके। ये दोनों द्वार नाक और मुंह हैं—एकसे तो हवा भीतर प्रवेश करती है और दूसरेसे आहार। यदि हम इनकी पसंदका ख़याल न कर इनकी उपेक्षा करते जायं तो ये भी अपने कर्तव्य-पालनमें ढीले पड़ते जाते हैं और अनिष्टकर पदार्थोंको भी, जो शरीरका अंश नहीं बन सकते, बिना किसी रोक-टोकके अंदर प्रवेश करने देते हैं। सिगरेटबाजोंकी मंडलीमें बैठा हुआ धूम्रपानसे परहेज करनेवाला व्यक्ति भी सिगरेटका विषाक्त धुआं स्वच्छ वायुकी तरह सांसके जरिये अंदर पहुंचाता रहता है। घ्राणका विषय परिमित होनेके कारण नाकके तो कम, पर अनेकानेक

प्रलोभन प्रस्तुत होते रहनेसे जीभके पतित होनेकी बहुत अधिक संभावना रहती है। रोज ही हमारे सामने ऐसी-ऐसी मसालेदार और चटपटी चीजें आती रहती हैं जिन्हें हमारे पूर्वजोंने स्वप्नमें भी न देखा होगा। उचित तो यह है हम इनसे परहेज करें, पर ऐसा न कर हम उन्हें गलेतक ठूंस लेते हैं और इस प्रकार अस्वास्थ्यकर वस्तुएं अधिक मात्रामें अंदर पहुँचाकर अपने पाचनयंत्रको खराब कर लिया करते हैं।

पाचनयंत्र कैसे कमजोर या खराब होता है—यह एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। जो टट्टू दो मनका बोझ ढोया करता है उससे आप चाबुकके जरिये दो-एक बार या कुछ दिनोंतक तीन मनका बोझ ढुलवा सकते हैं। यदि आप रोज इतना ही बोझ लादते जायं तो कुछ दिनोंतक तो वह किसी तरह ढो ले जायगा, पर उसका यह अधिक बोझ ढोना उसके लिए बहुत हानिकर होगा; कुछ दिनोंके बाद वह दो मनका पहला बोझ भी न ले जा सकेगा और आगे चलकर तो यह जवाब ही दे देगा। ठीक यही बात पाचन-यंत्रके संबंधमें भी कही जा सकती है। आधुनिक उत्तेजक पदार्थोंके सहारे कुछ दिनों क्यों, बहुत दिनोंतक वह काम करता जायगा, पर उसकी शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जायगी और एक दिन वह बिलकुल निःशक्त हो जायगा। यह क्रिया—स्वास्थ्यसे अस्वस्थताकी ओर बढ़नेकी गति—इतनी अलक्षित और धीमी होती है कि मनुष्यको बहुत दिनोंतक इसका भान भी नहीं हो पाता।

रुग्ण आंतोंके लिए आहारकी क्या उपयुक्त मात्रा होगी, यह कहना आसान नहीं है। अगर किसीके लिए एक सेब लाभदायक हो सकता है तो दो हानिकारक हो जायंगे। जितना वह पूरा-पूरा पचा सके वही उपयुक्त मात्रा है, उससे अधिक वह जो कुछ खायगा वह उसके लिए विषके समान होगा और यदि वह मलमार्गोंसे शरीरके बाहर न निकल सका तो वही विजातीय द्रव्यके रूपमें शरीरमें एकत्र होगा।

इस द्रव्यसे शरीरके क्षयकी पूर्तिमें तो सहायता मिलती नहीं, ऊपरसे यह संचलनक्रियामें बाधक होकर पाचनकी क्रिया भी मंद कर देता है।

यह प्रायः मलमार्गोंके पास ही एकत्र हुआ करता है और अगर रहन-सहनमें शीघ्र परिवर्तन न किया जाय तो एक बार एकत्र होना आरंभ होनेपर दिनोंदिन बढ़ता ही रहेगा। उपर्युक्त गर्दन और शक्लका परिवर्तन इसी अवस्थामें आरंभ होता है। इस स्थितिमें शरीर रुग्ण ही रहता हैं, पर रोग जीर्ण होते हुए भी कष्टदायक नहीं होता। रोगकी वृद्धि इतनी मंथर गतिसे होती है कि बहुत दिनोंतक उसका पता ही नहीं चलता; पता तब चलता है जब पहले—जैसा न तो शारीरिक श्रम हो पाता है और न मानसिक। मलमार्गोंके जैसे-तैसे काम करते रहनेसे काम चलता जाता है, उनके अशक्त हो जानेपर ही अवस्था कष्टदायक या चिंताका कारण होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विजातीय द्रव्य आरंभमें मलमार्गोंके पास ही एकत्र होता है, पर बादमें वह अन्य भागों, विशेषकर ऊपरके भागोंमें फैलने लगता है। गर्दनमें यह स्पष्ट रूपसे देख पड़ता है। गर्दन घुमाते समय जिधर तनाव मालूम हो, समझना चाहिए कि विजातीय द्रव्य उसी मार्गसे आगे बढ़ा है। इस द्रव्यके कारण शरीरका विकास भी रुक जाता है; क्योंकि जहां यह एकत्र होता है वहां रक्तका संचलन समुचित रूपसे न होनेके कारण वह भाग पोषक तत्त्वोंसे वंचित हो जाता है। रोगकी प्रगति कहांसे आरंभ हुई है, इसका भी निश्चय करना कठिन होता है; क्योंकि बहुतसे लोग विजातीय द्रव्यका भार लिये पैदा ही होते हैं। शैशवावस्थामें तरह-तरहके रोग होनेका यही कारण हुआ करता है।

यह द्रव्य बहुत दिनोंतक उसी रूपमें पड़ा रहता है, पर मौसम, भावावेश या अन्य कारणोंसे परिस्थिति अनुकूल होनेपर शीघ्र ही उसका रूपांतर हो जाता है। घुलने और गलनेवाला होनेके कारण वह ऐसे रूपमें परिणत हो जाता है कि उससे खमीर पैदा हो सके। यह खमीर शरीरमें प्रायः बनता रहता है। रोगोत्पत्तिके संबंधमें यही सबसे अधिक महत्त्वकी बात है। यह क्रिया उदरमें आरंभ होती है और

साधारणतः दस्तके रूपमें विजातीय द्रव्य बाहर निकल जाता है, पर अगर कब्जकी शिकायत रही तो खमीर बनना जारी रहेगा और वह ऊपरकी ओर उठेगा। अगर आप बोतलमें कोई द्रव पदार्थ—किसी फलका रस—रख दें तो उसमें गर्मी पहुंचनेपर पहले नीचेके हिस्सेमें खमीर बनना शुरू होगा, बादमें वह ऊपरकी ओर बढ़ेगा। शरीरका खमीर भी ठीक इसी तरह ऊपरकी ओर बढ़ता है और हमें सिरदर्दके रूपमें इसका अनुभव होता है। इसके अनंतर विजातीय द्रव्यके कणोंके आपसके और त्वचाके साथ उनके संघर्षसे और खमीर बननेकी क्रियासे भी जो गर्मी पैदा होती है उसका हमें अनुभव होने लगता है। इसी गर्मीको हम लोग ज्वर कहा करते हैं। इस प्रकार ज्वर तभी होता है जब शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद हो और वह बाहर न निकल सके अर्थात् मलमार्ग अपना काम ठीक तरहसे न कर रहे हों। इससे स्पष्ट है कि ज्वर और कुछ नहीं, शरीरके अंदर होनेवाली खमीर बननेकी क्रियाका ही नाम है। जिस प्रकार गर्मीके कारण द्रव्य पदार्थोंमें खमीर पैदा होता है उसी प्रकार गर्मीमें ही शरीरस्थ विजातीय द्रव्यका भी खमीर बनता है। यही कारण है जिससे गर्म देशोंमें ठंढे देशोंकी अपेक्षा ज्वर अधिक हुआ करता है।

ज्वरकी हालतमें मनुष्यका शरीर कुछ फैल भी जाता है, क्योंकि चमड़ा फैलनेवाला होनेके कारण खमीरकी उसपर क्रिया होने लगती है। जब तनाव इतना बढ़ जाता है कि त्वचा और आगे बढ़नेसे इनकार कर देती है तब ज्वर और उसके साथ ही खतरा भी बहुत बढ़ जाता है। खमीरमें फैलनेकी प्रवृत्ति होती है, पर ऊपरसे रोग लग जानेके कारण वह भीतरकी ओर अपने लिए स्थान ढूंढ़ने लगता है जिससे शरीर भीतर-ही-भीतर जलने लगता है और मृत्यु अनिवार्य हो जाती है। अगर किसी तरह इस खमीरको निकलनेका मार्ग मिल जाय तो ज्वरका जोर कम हो जायगा और खतरा भी टल जायगा। अगर मार्ग न मिला तो जिस अंगपर उसका ज्यादा असर होगा उसे वह नष्ट कर डालेगा।

इस संबंधमें एक बात और जान लेना आवश्यक है। गर्मी बढ़नेके पहले कुछ कालतक थोड़ी ठंढ मालूम होती है। यह तभी होता है जब विजातीय द्रव्य इतना बढ़ जाता है कि रक्तका प्रवाह रक्त-नलिकाओंके छोरतक नहीं पहुंच पाता और दबाव भीतरकी ओर बढ़ जाता है। इस प्रकार यह ठंढ ज्वरकी पूर्वसूचना होती हैं जिसकी ओर ध्यान न देना बहुत बड़ी भूल है। अगर इसी समय समुचित उपचार आरंभ हो जाय तो ज्वर बढ़ने ही न पाये ।

खमीर बननेकी क्रिया शुरू होनेपर दंडाणु (बेसिलस) पैदा होने लगते हैं। लोगोंका कहना है कि संक्रामक रोगोंके कीटाणु इन्हींके द्वारा शरीरमें प्रवेश करते हैं। यदि विजातीय द्रव्यका खमीर न बने तो इन कीटाणुओंके प्रवेश करनेकी भी कोई संभावना नहीं रहेगी । इसलिए प्रश्न दंडाणुओंका अंत करनेका नहीं, बल्कि विजातीय द्रव्यको शरीरमें एकत्र न होने देने या यदि एकत्र हो तो उसे बाहर निकालनेका है। इस द्रव्यके बाहर निकल जानेपर ये छोटे दानव जिन्होंने अनगिनत लोगोंके दिमागमें संक्रमणका हौआ पैदा कर रखा है, आप-से-आप नष्ट हो जायंगे ।

एक उदाहरणसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। अगर किसी कमरेकी बहुत दिनोंतक सफाई न हो और उसमें गंदगी जमा होती रहे तो उस कमरेपर कीड़े-मकोड़े कब्जा जमा लेंगे और रहनेवालोंकी नाकमें दम कर देंगे। अगर पुराने तरीकेसे किसी विषके द्वारा उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाय तो इससे स्थितिमें कोई विशेष अंतर नहीं आयेगा; जितने मरेंगे उससे कई गुने उस गंदगीसे फिर पैदा हो जायंगे। इसके बजाय अगर कमरेकी गंदगी ही दूर कर दी जाय तो स्थितिमें आमूल परिवर्तन हो जायगा। उनकी उत्पत्तिका मूल कारण दूर हो जानेपर उनसे कमरेमें रहनेवालोंका पिंड छूट जायगा ।

गर्मीके दिनोंमें दलदल या नम जमीनमें बहुत बड़ी संख्यामें मच्छर पैदा हो जाते हैं। यदि उन्हें किसी विषैली दवासे या और किसी

तरह एक बार नष्ट भी कर दिया जाय तो वे फिर पैदा हो जायंगे। यदि उन्हें एकत्रकर किसी शुष्क पहाड़पर पहुंचा दिया जाय तो भी वे वहां कभी न टिकेंगे, फौरन पहले स्थानपर लौट आयेंगे। उष्ण देशोंमें जीव-जन्तु बहुतायतसे होते हैं तो उनको खानेवाले जीव भी बहुतसे होते हैं। इन मांसाहारी जीवोंका यदि अंत करना हो तो पहले उनका शिकार या खाद्य पदार्थ नष्ट करना पड़ेगा।

इन बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति किस प्रकार बड़े पैमानेपर कार्य करती है। छोटे क्षेत्रोंमें भी प्रकृतिका यही नियम काम करता है। क्षेत्र छोटा-बड़ा होनेके कारण प्रकृतिके नियममें कोई अंतर नहीं आता इसलिए यदि दंडाणुओंका अंत करना है तो उन्हें विषवाली दवाओंसे मारनेकी जरूरत नहीं है; उनके अस्तित्वका आधार न रहनेपर वे आप ही नष्ट हो जायंगे। सारांश यह कि स्वास्थ्यके लिए, रोगोंका निवारण करनेके लिए शरीरमें विजातीय द्रव्यको एकत्र न होने देने और एकत्र द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न करना आवश्यक है; क्योंकि यह विजातीय द्रव्य ही रोगका मूल कारण है, उसका बाहरी रूप चाहे जैसा भी हो।

# बच्चोंके रोग और उनका उपचार

शरीरमें विजातीय द्रव्यका मौजूद रहना ही रोग है। मनुष्य या तो इसे साथ लेकर पैदा होता है या हानिकर पदार्थ खा-पीकर शरीरमें पहुंचाया करता है। पहले तो शरीर आंतों, फुप्फुसों, मूत्राशय और त्वचाकी राह भरसक इसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है, पर जब वह इसमें समर्थ नहीं हो पाता तब यह शरीरमें कहीं-न-कहीं जमा हो जाता हैं और सबसे तंग भाग गर्दन और चेहरेपर स्पष्ट रूपसे देखा जा सकता है।

अगर बोतलमें कोई रस रखकर उसमें खमीर पैंदा होने दिया जाय और उसका मुंह खुला रहे तो खमीर फैलकर बाहर निकलने लगेगा, पर अगर उसका मुंह किसी फैलनेवाली पोली चीजसे बंदकर गैसका बाहर निकलना रोक दिया जाय तो पहले तो वह ढक्कन कसता जायगा और बादमें गैसके दबावसे वह फैलने लगेगा। अगर शीशेके बजाय हम किसी ऐसे पदार्थका बोतल लें जो पारदर्शक होनेके साथ ही फैल भी सके तो हम स्पष्टत: देखेंगे कि जिस ओर खमीर उठ रहा है उस ओरका बोतलका पार्श्व भी खमीरके फैलावके मुताबिक बढ़ता जा रहा है। शरीरकी हालत भी बहुत कुछ ऐसी ही हुआ करती है, अंतर केवल यह होता है कि शरीरका भीतरी भाग उतना पोला नहीं होता जिससे खमीरको अबाध गतिसे फैलनेकी स्वतंत्रता नहीं रहती, जो अंग बाधक होते हैं उनमेंसे होकर या उनसे बचकर ही उसको आगे बढ़ना पड़ता है। बोतलमें खमीर पैदा होनेका स्थान पेंदा होता है, शरीरमें वह स्थान उदर है।

विजातीय द्रव्यमें खमीर पैदा होनेपर वह सारे शरीरमें फैलने लगता है और गर्मी पैदाकर शरीरको उत्तेजित कर देता है। इसी अवस्थाको हम लोग ज्वर कहते हैं। अगर खमीरकी क्रिया सिर्फ अंदर हो तो गर्मी भी अंदर ही रह जाती है और बाहर ठंढा रहता है। यह हालत ज्वरवाली

हालतसे ज्यादा खतरनाक होती है। ठंढवाली अवस्थाका ज्वरकी अवस्थामें परिणत होना एक महत्त्वपूर्ण बात है। भीतरका ज्वर बाहर आनेसे खमीर भी बाहरकी ओर आ जाता है और तब पसीने आदिके रूपमें उसे बाहर निकालना आसान हो जाता है। अगर उसे बाहरकी ओर लानेमें सफलता न मिली, ज्वर भीतर ही रह गया तो वह भयंकर रोगका रूप धारण कर लेता है जिससे मृत्यु भी हो जा सकती है; क्योंकि इस स्थितिमें भीतरके अंग ज्वरसे जल जाते हैं और अगर खमीरकी क्रिया रुक जाय तो विजातीय द्रव्य उन अंगोंको ढक लेता है। इस प्रकार शरीरमें विजातीय द्रव्यका रहना नगरमें बारूदका ढेर रखनेके सामान होता है। सतर्क रहनेपर भी कहींसे चिनगारी पहुँचकर बारूदसे भयंकर विस्फोट उत्पन्न कर दे सकतीं है। यह सत्य है कि विजातीय द्रव्यका विस्फोट सर्वदा घातक ही नहीं हुआ करता पर अगर कहीं खमीर बाहर नहीं निकल सका तो उसके घातक होनेमें कोई संदेह भी नहीं रहता।

जैसा कि आरंभमें ही कहा जा चुका है, बहुतसे बच्चे यह विजातीय द्रव्य साथ लेकर ही पैदा होते हैं। शैशावस्थामें जो बहुतसे तीव्र रोग हुआ करते हैं उसका मूल कारण यही है। हममेंसे प्रायः प्रत्येकको इन रोगोंका सामना करना पड़ता है। इनका बाह्यरूप तो विभिन्न प्रकारका होता है और अलग-अलग नाम भी है, पर सबका मूल कारण एक ही—वही ज्वरवाली अवस्था—है। प्राकृतिक चिकित्साकी दृष्टिसे इन नामोंका कोई महत्व नहीं है, पर पाठकोंकी सुविधाके विचारसे इन रोगोंपर विचार करते समय हम इन प्रचलित नामोंका ही उपयोग करेंगे।

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होनेवाले बच्चोंके इन रोगोंमें खतरा एक-जैसा नहीं होता इसलिए उपचारका रूप निर्धारित करना भी कठिन हुआ करता है। हां, एक बात अवश्य होती है। वह यह कि रूपमें अंतर होते हुए भी इनमें दो बातें सामान्य रूप से पायी जाती हैं—गर्मी और ठंढ।

## रोमांतिका (खसरा)

रोमांतिका (मीजिजसे) पीड़ित किसी बच्चेकी अवस्थापर विचार कीजिए। पहले तो उसको बेचैनी होती है, नींद नहीं आती औरउसकी त्वचा गर्म और शुष्क रहती है। साधारण तौरपर इसे ज्वरकी अवस्था कहते हैं, पर इस स्थितिमें यह कोई नहीं बतला सकता कि यह कौन-सा रोग है। इस तरहकी हालतमें और बच्चोंको रोमांतिका होते देख इसके भी उसी रोगसे आक्रांत होनेका अनुमानभर कर लिया जाता है। फिर भी इसका उपचार तो आरंभ कर ही दिया जा सकता है और उसका आधार वही ज्वरवाला सिद्धांत होगा।

ज्वर कम करनेका एकमात्र उपाय रोमकूपोंका मुंह खोलना है जिसमें पसीना आसानीसे निकल सके। इसके साथ ही ठंढ पहुँचानेवाले उपायसे अंदरकी गर्मी निकालनेका भी प्रयत्न होना चाहिए। पसीना निकलनेपर ज्वर कम हो जाय तो समझना चाहिए कि रोमांतिका निकलनेकी संभावना बहुत कम हो गयी। विजातीय द्रव्य पसीने, प्रश्वास और मल-मूत्रके रूपमें बाहर निकल जायगा। अगर यह उपचार जल्द न हो तो रोमांतिका चकत्तोंके रूपमें निकल आयेगी। चकत्तोंकी संख्या जितनी अधिक होगी खतरा भी उतना ही कम होगा; क्योंकि उनके जरिये सारा विजातीय द्रव्य बाहर निकल जायगा। उनके कम निकलनेपर खतरा ज्यादा रहेगा; क्योंकि ज्वर अंदरके अंगोंमें रहकर उन्हें जला डालेगा। बच्चेकी मृत्यु तब इस कारण नहीं होगी कि रोमांतिका निकली थी बल्कि इस कारण होगी कि वह खूब अच्छी तरह नहीं निकल पायी थी।

रोमांतिका रोगसे पूर्णरूपसे छुटकारा पानेके लिए विजातीय द्रव्यके निकासके मार्गोंको खोलना होगा और अंदरकी गर्मी भी शांत करनी होगी। ठंढ तो कटि और मेहन-स्नानके द्वारा पहुँचायी जाय और पसीना निकालनेका सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि रातको माता बच्चेको अपने साथ सुलाकर अपने शरीरसे उसे गर्मी पहुंचा। दूसरा उपाय यह है कि बच्चेको गद्देदार बिस्तरपर सुलाकर उसे कंबलसे ढक दिया जाय।

स्वच्छ हवाके प्रवेशके लिए कमरेकी खिड़कियां बराबर खुली रहे। अगर इन उपायोंसे काम चलता नजर न आये तो बच्चेको वाष्पस्नान कराया जाय। प्रत्येक वाष्प-स्नानके बाद कटिस्नानद्वारा ठंढ पहुंचायी जाय। इस प्रकार बच्चेकी हालत सुधरती जायगी। यदि ज्वर फिर हो जाय तो कटि या मेहनस्नानके बाद बिस्तरेपर लिटाकर पसीना निकालनेका प्रयत्न किया जाय। ज्वरके लौटते रहनेतक यही क्रिया दुहराते रहना चाहिए। सिर, आंख या और किसी अंगपर भार मालूम हो तो उस विशेष अंगका वाष्प-स्नान कराया जाय। इस स्नानके बाद भी कटि या मेहन-स्नान आवश्यक होगा।

## आरक्त ज्वर (सुर्ख बुखार)

इस रोगके आरंभमें भी वही रोमांतिकावाले लक्षण देख पड़ते है। पहले लाल-लाल छोटे-छोटे चकत्ते निकलते हैं, पर बादमें वे आपसमें मिल-कर बड़े हो जाते हैं। सिर, सीने, और नाभिके पास ये ज्यादा निकलते हैं। इसमें शरीरका ऊपरका हिस्सा तो बहुत गर्म रहता है, पर पैर ठंडे रहते हैं। कानों और आंखोमें दर्द रहता है। यह सब इस बातका सूचक है कि विजातीय द्रव्यका खमीर नीचे न उतरकर ऊपर ही बढ़ा है और ऊपरके ही भागमें एकत्र विजातीय द्रव्यपर उसका ज्यादा असर हुआ है। जितने ही कम भागमें यह प्रकट होता है खतरा उतना ही ज्यादा होता है।

आंखों और कानोंको बचानेके लिए सिरका वाष्प-स्नान कराकर पसीना निकालनेका प्रयत्न करना चाहिए। अगर खमीर अन्य मलमार्गोंसे बाहर न निकल सका तो दर्द फिर-फिर होता रहेगा। इसके लिए कटि-स्नान आवश्यक होगा जिसमें पाचन-क्रिया ठीक हो जाय जो ज्वरकी हालतमें और उसके भी पहलेसे बहुत खराब हो गयी होती है। कटि-स्नान-से आंतें ढीली पड़ जायगी जिससे कोष्ठबद्धता दूर हो जायगी। रोगके पूर्णतः दूर होनेमें काफी समय लगता है इसलिए धैर्यपूर्वक उपचार करते जाना चाहिए।

# रोहिणी (डिप्थीरिया)

बच्चोंका यह रोग माता-पिताके लिए विशेष चिंता और भयका कारण होता है। इसके लक्षण उपर्युक्त रोगोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। ज्वर ही एक ऐसा लक्षण है जो सबमें सामान्य रूपसे होता है। कभी-कभी ज्वर बाहर बहुत कम रहता है। बच्चे बिस्तरपर सुस्त पड़े रहते हैं और सांस लेनेमें तकलीफ होनेकी शिकायत करते हैं। रोगोंकी यह अवस्था कुछ खतरनाक होती है। अंदर तेज ज्वर रहता है, त्वचा निष्क्रिय रहती है और मूत्राशय, तथा आंतें शिथिल पड़ जाती हैं। खमीर भीतर जगह न मिलनेपर बाहरकी ओर बढ़ता है, पर मलमार्गोंके निष्क्रिय हो जानेसे गलेके अतिरिक्त उसके बाहर निकलनेका और कोई मार्ग नहीं रह जाता। इस हालतमें गला रुंध जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

अगर गलेमें विजातीय द्रव्य पहुंच गया हो तो पहले स्थानीय उपचारद्वारा गलेको मुक्त करनेका—चाहे वह थोड़ी ही देरके लिए क्यों न हो—प्रयत्न करना चाहिए। वाष्पस्नानद्वारा यह कार्य बड़ी सफलता और शीघ्रतासे होता है। इससे दर्द कम हो जाता है और मेहन-स्नान आदिके द्वारा विजातीय द्रव्यसे उसके मुख्य स्थान उदरको मुक्त करनेका समय मिल जाता है।

इस रोगमें पहले संधियों—घुटनों, कंधों आदि—में दर्द होता है और फिर विजातीय द्रव्यके दबावके कारण गलेमें सूजन हो जाती है। संधियोंका दर्द तो किसी तरह बर्दाश्त भी किया जा सकता है, पर गलेकी सूजन असह्य हो जाती है इसलिए जबतक आंतें अपना काम ठीक-ठीक न करने लगें तबतक इसके उपचारमें बड़ी तत्परता और सावधानता अपेक्षित होती है। साथ ही ज्वरको बाहर लानेका भी प्रयत्न होना चाहिए जिसमें त्वचाको सक्रिय बनाकर विजातीय द्रव्य पसीनेके रूपमें बाहर निकाला जा सके। यह कार्य माता साथ सुलाकर आसानीसे कर सकती

हैं। इस उपायसे पसीना न निकलनेपर ही वाष्प आदिका कृत्रिम उपाय काममें लाना चाहिए।

## मसूरिका (चेचक)

इस रोगके कई रूप देखनेमें आते हैं और यह सबसे ज्यादा खतर-नाक भी माना जाता है; क्योंकि इसमें ज्वर बहुत तेज होता है और ठीक उपचार न होनेपर बहुत जल्द मृत्यु हो जाती है। आरंभमें इसका भी ठीक-ठीक पता नहीं चलता, ज्वर-ही-ज्वर रहता है, पर बादमें दाने निकल आते हैं जो प्रायः मटरके बराबर होते है और पीछे और बढ़ जाते हैं। उनका आधा भाग तो शरीरके अंदर और आधा भाग बाहर निकला होता है। दोनोंके बीचमें काला दाग पड़ जाता हैं। कभी-कभी ये दाने सारे शरीरमें न निकलकर किसी विशेष भागमें अधिक देख पड़ते हैं— जहाँ विजातीय द्रव्य अधिक जमा रहता है वहीं ज्यादा निकलते हैं। चेहरेपर ये अधिक निकलते हैं; क्योंकि शरीरका छोर होनेसे खमीर वहाँ पहुँचकर रुकता जाता है। चेहरेपरका विस्फोट और बुरा होता है; क्योंकि गड्ढों और दागोंके रह जानेसे शक्ल ही खराब हो जाती है। अगर आँखोंसे विस्फोट हो तो मनुष्यको उनसे भी हाथ धो लेना पड़ता है।

दानोंके अच्छी तरह निकल जानेपर खतरा प्रायः टल जाता है। केवल ऐसे ही लोग मरते हैं जिनका शरीर खमीर पूरा-पूरा निकाल बाहर करनेमें समर्थ नहीं हो पाता कभी-कभी तो मृत्युके बाद भी विस्फोट होता और दाने निकल आते हैं। अगर मृत्यु होती है तो वह मसूरिका होनेके कारण नहीं, बल्कि दानोंके पूरा-पूरा न निकलनेके कारण तेज ज्वरकी हालतमें होती है।

दाने निकलनेके पहले बहुत तेज ज्वर होता है और गर्मीके कारण दानोंमें बड़ी जलन और खुजली होती है जिससे रोगी बेचैन होकर शरीर नोचने लगता है। फल यह होता है कि दाने पकनेके पहले ही खुरच जाते हैं और बदशक्ल बनानेवाले चिह्न रह जाते हैं। कहीं-कहीं इससे बचनेके लिए रोगीके हाथ बांध दिये जाते हैं जिससे उसके कष्टोंकी

सीमा नहीं रह जाती । पसीना निकलनेके लिए रोमकूपोंका मुंह खोल देने और उदरमें ठंढ पहुँचानेपर खुजली बहुत कुछ कम पड़ जाती है ।

इस रोगमें बड़ी सावधानी बरतनेकी जरूरत पड़ती है । ज्वर शुरू होनेके साथ ही उपचार शुरू कर देना चाहिए । रोग बादमें कौन-सा रूप ग्रहण करेगा वह देखनेके लिए रुकना बड़ी भूल है । सब रोगोंका मूलरूप एक ही—विजातीय द्रव्यका एकत्र होना—होता है, इस लिए चिकित्साकी पद्धतिमें भी कोई विशेष अंतर नहीं होता । जिस प्रकार बोतलमें छेद कर दिये जानेपर खमीर बाहर निकल जाता है उसी प्रकार रोमकूपोंका मुंह खुल जानेपर विजातीय द्रव्यका खमीर बाहर निकल जायगा । यदि इसके साथ ही मेहन और कटि-स्नानद्वारा आंतें ढीली करनेका उपाय कर दिया जाय तो सारे उत्पातोंकी जड़ ही कट जायगी ।

## कुकुरखांसी

यह रोग रोहिणी या मसूरिका—जैसा खतरनाक नहीं होता, फिर भी बहुत-से बच्चोंकी मृत्यु हो जाया करती है । खाँसी, परेशानी और तकलीफका ही कारण नहीं हुआ करती, वह किसी बड़े रोगका सूचक भी हुआ करती है । यह तभी उठती है जब नीचेके मलमार्गोंके ठीक तरहसे काम न करनेपर विजातीय द्रव्यका दबाव ऊपरकी ओर होता है । इस रोगसे ग्रस्त बच्चेमें भी खमीरका परिचायक चिह्न—अल्प ज्वर—मौजूद रहता है । विजातीय द्रव्य गले और सिरकी ओरसे निकलनेका मार्ग ढूंढता है । अगर खाँसीका दौरा होनेपर रोगीको पसीना आता हो तो कोई विशेष उपचार आवश्यक नहीं होता; पसीना न आनेपर बच्चेकी शक्ल स्याह पड़ जाती है और समुचित उपचार न होनेपर वह मृत्युका शिकार हो जा सकता है । रोगके बहुत बढ़ जानेपर तो नाक, आंख और कानसे खून भी निकलने लगता है; क्योंकि विजातीय द्रव्य इन्हीं मार्गोंसे बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है । इस हालतमें उपचारद्वारा सहायता पहुंचाना भी कठिन ही होता है ।

इस रोगका उपचार भी वही है। इसमें पसीना निकलने और ऊपर की ओर बढ़ते हुए विजातीय द्रव्यको नीचे लाकर मलमार्गोंसे बाहर निकालनेका प्रयत्न होना चाहिए। उपर्युक्त स्नानोंसे इसमें पूरी सफलता प्राप्त की जा सकती है। पसीना निकलने लगनेपर खाँसी कम पड़ जायगी और पाचनक्रियाके सुधर जानेपर तो वह बिलकुल दूर हो जायगी।

## गंडमाला

इस रोगमें गर्मी पैदा नहीं होती इसलिए इसकी गणना ज्वरवाले रोगोंमें नहीं की जाती, पर होनी चाहिए उसी श्रेणीमें। ज्वर न होनेका कारण यह होता है कि शरीर ज्वर पैदा करनेकी स्थितिमें होता ही नहीं। समशीतोष्ण और ठंढे मुल्कोंमें यह रोग विशेष रूपसे होता है। इसमें सिर वर्गाकार हो जाता है, आंखें उठ जाती हैं, शरीरमें सूजन होती है; पैर पतले और हाथ-पैर टेढ़े हो जाते हैं और मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है। ये सभी चिह्न एक ही रोगीमें नहीं पाये जाते। हाथ-पैर तो ठंढे रहते ही हैं, शरीरमें भी ठंढ मालूम होती है। यह अवस्था रोगकी भीषणताकी सूचक होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके अंगोंके छोर विजातीय द्रव्यसे लद गये हैं, उनकी शक्ति बहुत नष्ट हो गयी है और अंदर अंगोंको जलानेवाली गर्मी मौजूद है।

रक्तनलिकाओंमें विजातीय द्रव्यके भर जानेसे उनकी हालत कीचसे भरी नालोंजैसी हो जाती है और सतहतक रक्तका संचार न होनेके कारण ठंढ बनी रहती है। तीव्र न होनेके कारण इस रोगसे विशेष कष्ट नहीं होता। निदान और उपचार ठीक-ठीक न हो सकनेके कारण लोग जलवायु-परिवर्तनकी राय देते हैं, पर इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इस प्रकारका रोगी प्रायः माता-पितासे प्राप्त विजातीय द्रव्यसे ही लदा हुआ पैदा होता है। द्रव्यके लदावके कारण सिर गोलापन छोड़कर वर्गाकार बनता जाता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बोतलका फैलनेवाला ढक्कन खमीरके दबावसे पहले कसता और फिर फैलने

लगता है। आकृति देखकर इस रोगीको पहचान आसानीसे की जा सकती है। हाथ-पैरके सुडौल न रहनेका कारण भी विजातीय द्रव्य ही है, जिसे त्वचा निष्क्रिय हो जानेके कारण बाहर नहीं निकाल सकी।

भीतर ज्वर बराबर बना रहता है जिससे बेचैनी रहती है। यह अन्तर्लीन या जीर्ण ज्वर—जैसा होता है। इसके जल्द दूर न होनेपर आगे चलकर क्षय आदि भीषण रोग प्रकट हो जाते हैं।

रोगका जीर्ण रूप हटाकर उसे तीव्र बनानेके लिए पहले ठंढको गर्मीमें परिणत करना आवश्यक है। ज्वरके बाहर आनेपर और रोगोंमें जो उपचार होता है वही इसमें भी करना चाहिए। यह रोग समय-साध्य होता है इसलिए अधीर न होकर उपचार करते जाना चाहिए।

ऊपर रोगोंके जो लक्षण और उन्हें दूर करनेकी जो विधि बतलायी गयी हैं उनसे स्पष्ट है कि इन सभी रोगोंके बाह्यरूपमें चाहे जो भी अंतर हो, पर सबका मूल विजातीय द्रव्य और उसमें पैदा होनेवाला खमीर है जो ज्वरके रूपमें प्रकट होता है। ज्वरकी तुलना तूफानसे मजेमें की जा सकती है। जिस प्रकार तूफान उठनेके पहले हवा भारी होकर बंद हो जाती है और अनुमान होने लगता है कि तूफान उठने ही वाला है उसी प्रकार ज्वरके पहले भी शरीर ठंढा हो जाता है और बेचैनी मालूम होती है; जैसे तूफानके निकल जानेपर वातावरण साफ और आनंद-दायक हो जाता है उसी प्रकार ज्वरके भी दूर हो जानेपर शरीर स्वच्छ-स्वस्थ हो जाता है। विजातीय द्रव्यमें खमीरका पैदा होना ही तूफान है। इस प्रकार तूफान हवाको और ज्वर शरीरको स्वच्छ करनेकी एक प्रक्रिया है।

# रोग—विजातीय द्रव्यका संक्रमण

रोमांतिका, मसूरिका, कुकुरखांसी, रोहिणी, गंडमाला आदि रोगके जो रूप बाल्यावस्थामें प्रायः प्रकट होते हैं उन सबमें दोमेंसे एक बात अवश्य देखी जाती है—या तो तापकी मात्रा बढ़ गयी होती है या ठंढकी। ये दोनों ही अवस्थाएं ज्वरकी हैं और इन सबका मूल कारण शरीरमें एकत्र विजातीय द्रव्य ही है, इसलिए इनके उपचारकी विधि भी मुख्यतः एक ही है। रोगके इन रूपोंद्वारा शरीर स्वस्थ होनेका प्रयत्न करता है, इसलिए प्रचलित औषधोपचार-पद्धतिके सिद्धांतानुसार इन्हें दबाने या प्रक्षिप्त करनेका प्रयत्न न कर शरीरके स्वास्थ्य-लाभके इस प्रयत्नमें यथासंभव उसे सहायता देनी चाहिए। इसी प्रकार शरीर वस्तुतः नीरोग भी हो सकता है; दबाने या प्रक्षिप्त करनेपर रोग भीतर-ही-भीतर गंभीर रूप धारणकर अंततः असाध्य अवस्थामें पहुंच जायगा; क्योंकि शरीरमें एकत्र विजातीय द्रव्य कभी निष्क्रिय नहीं रहता, उसकी स्थिति और रूपमें निरंतर परिवर्तन होता है।

रोगकी हालतमें खान-पानपर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है। रोगीको ऐसी कोई चीज नहीं देनी चाहिए जिससे शरीरमें नया विजातीय द्रव्य पहुंचकर खमीरकी मात्रा और बढ़ा दे। शरीर इस समय विशेष रूपसे क्रियाशील रहता हैं, इसलिए पाचन-शक्तिपर ऊपरसे कोई नया भार नहीं पड़ना चाहिए। पोषणकी दृष्टिसे स्वल्प मात्रामें कुछ दिया जा सकता है, पर रोगीके न माँगनेपर तो कुछ देना ही नहीं चाहिए।

शरीरमें विजातीय द्रव्यके पहलेसे ही एकत्र रहे बिना किसी तीव्र रोग (ज्वर) की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः यही स्थिति खतरनाक हुआ करती है। माता-पिताके शरीरमें विजातीय द्रव्य रहनेपर वह संतानके शरीरमें भी पहुंच जाता है। जब आंखका रंग, शरीरकी

आकृति, यहांतक कि मानसिक गुण-दोष भी बच्चोंमें आ जाते हैं तब यह तो आसानीसे माना ही जा सकता है कि माता-पिताके, विशेषकर माताके शरीरका विजातीय द्रव्य भी बच्चेमें आ जायगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि माता-पितामें रोगका जो रूप रहता है वह संतानमें भी प्रकट-होते देख पड़ता है।

अबतक संक्रमण केवल तीव्र रोगोंके संबंधमें माना जाता रहा है, पर माता-पिताके शरीरके विजातीय द्रव्यका संतानमें पहुंचना रोगसंक्रमणके अतिरिक्त और कुछ नहीं; क्योंकि यह संक्रमण ही बच्चेके तीव्र रोगोंसे ग्रस्त होनेका कारण हुआ करता है इसलिए बच्चेके रोगोंकी व्याख्या माता-पितासे प्राप्त इस विजातीय द्रव्यके ही आधारपर की जा सकती है।

पूछा जा सकता है कि तीव्र रोगका संक्रमण होता है या नहीं। इसका उत्तर 'हां' भी हो सकता है और 'नहीं' भी। जिन लोगोंका शरीर पूर्णतः स्वस्थ है—विजातीय द्रव्यसे रहित है वे संसर्गके कारण रोगकी चपेटमें नहीं आ सकते, चाहे जितने भी जीवाणु या दंडाणु मुंह या नाकके जरिये अपने शरीरके अंदर पहुंचा लें, पर यदि विजातीय द्रव्य मौजूद हो और तापकी मात्रा अनुकूल हो तो ये अंदर पहुंचकर उस द्रव्यमें खमीर पैदा कर देंगे। अगर विजातीय द्रव्य अत्यल्प मात्रामें हो तो छूत लगनेकी संभावना भी कम ही रहेगी। तीव्र रोगके द्वारा शरीर विजातीय द्रव्यको बाहर निकालता है और आरोग्य-लाभके समय खमीर सांस, स्वेद और मल-मूत्रके साथ विशेष रूपसे बाहर निकलता रहता है। अगर यह खमीर विजातीय द्रव्यवाले शरीरमें किसी तरह पहुंचकर रुका रह जाय तो उसमें भी वह खमीर पैदा कर देगा—ठीक वैसे ही-जैसे गर्म दूधमें किसी चीजका खमीर डाल देनेपर उसमें भी खमीर पैदा हो जाता है या पैसाभर दही, सेरों दूधको दहीमें परिवर्तित कर देता है। विजातीय द्रव्यके रूपमें रोगके लिए उपयुक्त क्षेत्र पहलेसे ही प्रस्तुत रहनेके कारण छूत लगनेपर वही रोग हो जाता है। जैसा कि होमियोपैथीका सिद्धांत

है, घोलके रूपमें पदार्थोंकी क्रियात्मक शक्ति बहुत बढ़ जाया करती है, इसलिए प्राकृतिक घोलके रूपमें पहुंचे इस खमीरका विजातीय द्रव्यपर बहुत तेज असर होता है। एलोपैथीके सिद्धांतानुसार प्रविष्ट किया जानेवाला गोमसूरिकाका विष अन्य दवाओंकी ही तरह शरीरको निश्चेष्ट बना देता है और प्रायः खमीरकी क्रिया भी रोक देता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि शरीर तीव्र रोगके द्वारा विजातीय द्रव्यको बाहर नहीं निकाल पाता और वह भीतर ही संचित रह जाता है। बादमें यही अंतर्निहित द्रव्य किसी भीषण रोगका कारण होता है। इसी पद्धतिकी बदौलत आज तरह-तरहके असाध्य जीर्ण रोग बढ़ते जा रहे हैं। इस दृष्टिसे कुनैन, ऐंटीफेब्रिन आदि दवाएं, जो आम तौरपर ज्वरको दबानेके लिए काममें लायी जाती हैं, स्वास्थ्यके लिए लाभदायक न होकर अत्यंत हानिकारक सिद्ध हो रही हैं।

पुरानी दवाओंके असर न करनेकी हालतमें उनसे भी तेज दवाओंकी खोज होती जा रही है। बात यह है कि किसी विशेष औषधके प्रयोगसे जो अंग कुछ निष्क्रिय हो गये होते हैं उनपर ओषधका फिर कोई असर नहीं होता, इसलिए उन अंगोंको और निष्क्रिय या अशक्त करनेके लिए पहलीसे ज्यादा तेज दवाकी जरूरत पड़ती है। अंततोगत्वा स्थिति यह हो जाती है कि ये तेज दवाएं भी विजातीय द्रव्यका खमीर बनाना रोकनेमें समर्थ नहीं हो पातीं और परिणाम मृत्युके रूपमें सामने आता हैं। एक उदाहरणसे यह स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो जायगी।

तंबाकू पीना शुरू करनेवालेको पहले अपने आमाशयसे संघर्ष करना पड़ता है—आमाशय तंबाकूके निकोटीन नामक विषका प्रतिरोध करता है। धीरे-धीरे कुछ आदी हो जानेपर यह प्रतिरोध-शक्ति कम पड़ जाती है और फिर तो बिलकुल खत्म ही हो जाती है। इस हालतमें पूर्व प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेके लिए और तेज या अधिक मात्रामें विषकी जरूरत पड़ती है। शुरू करनेवाले प्रायः कहा करते हैं—'हमारा आमाशय बहुत कमजोर है, धूम्रपान बर्दाश्त नहीं कर रहा है, इसकी आदत डालनी

पड़ेगी', पर दरअसल बात बिलकुल उलटी होती हैं। अगर आमाशय धूम्रपानका प्रतिरोध करता है तो समझना चाहिए कि वह सशक्त है, उसमें इतनी शक्ति मौजूद है कि वह बलपूर्वक विषको बाहर निकाल सके। अगर प्रतिरोध बंद हो जाय तो समझिए कि उसकी पहली प्राकृतिक क्रियाशीलता समाप्त हो गयी, वह अशक्त और निष्क्रिय हो गया।

इस अंतर्निहित विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेके लिए शरीरको किसी विशेष प्रबल और उत्तेजक साधनकी अपेक्षा होती है; क्योंकि कुनैन आदि दवाओंके कारण उसकी शक्ति कुंठित हो गयी होती है। अगर ठंढे स्थानमें बोतलमें कोई रस रखा रहे तो उसमें खमीर नहीं उठेगा, पर धूपमें रखनेपर या गर्मी लगनेपर बोतलका मुँह बंद होते हुए भी, खमीर पैदा होने लगेगा। इस खमीरका कारण दंडाणु (बेसिली) या और कोई जीवाणु नहीं होता, दंडाणु तो खमीर बननेके बाद ही उत्पन्न होते हैं—मुख्य कारण ताप ही होता है। यही ताप शरीरस्थ विजातीय द्रव्यकों भी खमीरके रूपमें परिणत कर देता है और यही कारण है जिससे गर्मीका मौसम आनेपर मरी फैला करती है।

जिन भूभागोंमें दलदल होता है और गर्मी ज्यादा पड़ती हैं वहांका वायुमंडल दलदलसे उठे खमीरसे भरा रहता है। जिन लोगोंके शरीरमें विजातीय द्रव्य अधिक मात्रामें होता हैं उनको वहां कुछ ही दिन रहने-पर ज्वर हो जाता है; क्योंकि वायुमंडलका खमीर उनके शरीरमें प्रवेश-कर विजातीय द्रव्यको खमीरके रूपमें परिणत कर देता है। जमे हुए पानीका भी बहुत कुछ ऐसा ही असर होता है। जाड़ेके दिनोंमें पंकवाले जलाशयोंका पानी साफ दिखता है, पर गर्मीमें नीचेसे खमीर उठकर सारे जलाशयको गंदला कर देता है जो इस बातका सूचक होता है कि जलके नीचे क्या है। पहाड़ी जलाशयोंमें नीचे पंक न होने, पत्थर होनेके कारण खमीर पैदा होनेकी संभावना नहीं रहती।

प्रश्न यह होता है कि संसर्गकी स्थिति न रहनेपर भी महामारी

क्यों फैलती है; एक ही रोगके आज यहां, कल वहां होनेका क्या कारण है? शरीरमें विजातीय द्रव्यके मौजूद रहे बिना महामारीका खयाल भी नहीं किया जा सकता। प्रायः प्रतिवर्ष, छोटे या बड़े क्षेत्रमें महामारी फैलनेसे यही सिद्ध होता है कि जनसमूहके रहनेका ढंग, खान-पान, विजातीय द्रव्यकी विद्यमानता बहुत कुछ समान हैं। शरीरपर मौसमका प्रभाव होनेपर वह विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगता है। अगर विजातीय द्रव्य और खमीरकी स्थिति बहुतोंमें एक-सी है तो रोगका रूप भी बहुत कुछ समान ही होगा, उनके रूपमें अंतर होनेपर रोगके रूपमें भी अंतर हो जायगा—जैसा कि प्रायः देखा भी जाता है। इस प्रकार मौसम ही महामारीका मुख्य कारण हुआ करता है, यों रोगीके साथ संसर्ग तो रोगके फैलनेमें सहायक होता ही है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तीव्र रोगोंका संक्रमण खमीरके संक्रमणसे, विशेषकर हवाके जरिये होता है, इसलिए रोगीके कमरोंमें स्वच्छ हवाका प्रवेश परमावश्यक है। कीटाणुनाशक द्रव्योंसे इस उद्देश्य-की पूर्ति नहीं होती, वे उल्टे हवा और गंदी कर देते हैं और साथ ही अपनी तेज गंधके द्वारा घ्राणशक्ति भी कुंठित कर देते हैं जिससे रोगके कारण गंदी हुई हवाका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। वे खमीर नष्ट करनेमें भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि खमीरकी स्वल्प मात्रा भी कहींसे प्रवेशकर विजातीय द्रव्यको खमीर बनानेके लिए काफी होती है। समुचित उपाय वही हैं जिससे विजातीय द्रव्य शरीरसे बाहर निकल जाय और रोगग्रहणके अनुकूल स्थिति ही न रहे। रोगियोंका उपचार करते समय मेरे शरीरमें प्रायः खमीर प्रविष्ट हो जाता था जिससे मेहन या कटिस्नान करते समय बाहर निकलनेपर वैसी ही दुर्गंध मालूम होती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन स्नानोंसे शरीरमें घुसा हुआ विष आसानीसे निकल जाया करता है।

जो अपने शरीरको—बाहर ही नहीं, अंदर भी स्वच्छ—रखना

जानता है उसके पास कभी कोई संत्रामक रोग नहीं फटक सकता। कुछ लोगोंकी धारणा है कि रोगके विभिन्न रूपोंमें कारण भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। रूप भिन्न होते हुए भी कारण एक—विजातीय द्रव्य—ही हुआ करता है। शरीरमें वह किस मात्रामें मौजूद है, इसका निश्चय आकृतिकी परीक्षाद्वारा किया जा सकता है।

रोग-संक्रमणके उपर्युक्त सिद्धांतको दृष्टिमें रखकर विचार करनेपर संक्रामक रोगोंकी रोक-थामके लिए औषधोपचारक जो उपाय काममें लाया करते हैं वह उनके अज्ञानका ही परिचायक होता है। सारे मकानका संबंध-विच्छेद कर दिया जाता है और कारबोलिक एसिड आदि कीटाणु-नाशक द्रव्य डालकर व्यर्थ ही दुर्गंध फैलायी जाती है। मैंने बहुतेरे रोग-ग्रस्त बच्चोंको अपने भाई-बहनोंके साथ सोते देखा है, पर विजातीय द्रव्यसे रहित होनेके कारण उनपर छूतका कोई असर होते नहीं देखा। इसके विपरीत बचावके सारे संभव उपाय होते हुए भी घरके सारे बच्चों-को एक ही रोगसे ग्रस्त होते देखा है। रोगग्रस्त होनेके पहले ही उनकी आकृतिसे विजातीय द्रव्यका उनके शरीरमें मौजूद होना स्पष्ट हो गया था और अभिभावकोंको इनकी सूचना भी दे दी गयी थी। जंगलमें सड़े-गले, कीड़ोंसे भरे ठूंठके पास ही दूसरे वृक्ष लहलहाते रहते हैं। अगर इन वृक्षोंमें भी विकृत द्रव्य होता तो उनमें भी कीटाणु उत्पन्न हो गये होते और उनकी भी उस ठूंठ—जैसी ही गति हो गयी होती, पर वे निरंतर हरे-भरे रहकर ऊपरकी ओर भागते जाते हैं; कीड़े उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुंचा पाते; क्योंकि उनका आहार मौजूद नहीं होता।

यदि जनता रोगसंक्रमणके इस रहस्यको भलीभांति समझ जाय तो औषधोपचार-पद्धतिने इस संबंधमें जो भ्रम फैला रखा है वह शीघ्र ही दूर हो जाय। फिर तो वह महामारीका प्रकोप होनेपर किंकर्तव्य-विमूढ़ न होकर उसके मूल कारणको ही दूर करनेमें अपनी सारी शक्ति लगा देगी।

# वात, संधिवात, गृधसी आदिका कारण और उपचार

पूर्व कालमें प्रौढ़ या अधिक अवस्थाके ही लोग, विशेषतः पुरुष इन रोगोंसे आक्रांत होते देखे जाते थे, पर अब तो स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी इनके शिकार होने लगे हैं। इनकी रोक-थामके लिए जितना अधिक प्रयत्न किया गया है उतने ही ये बढ़ते गये हैं। यों तो शरीरके किसी भी भागपर इस प्रकारके रोगका आक्रमण हो सकता है, पर अधिक संभावना संधियोंपर ही होनेकी रहती है।

इस प्रकारके रोगके मूल कारणका पता लगानेका बहुत कम प्रयत्न किया जाता है। आमतौरसे लोग कह दिया करते हैं—'ठंढ लग गयी है'। आश्चर्यकी बात तो यह है कि आविष्कारके इस युगमें लोगोंने मौसममें इस प्रकारका कोई परिवर्तन करनेका उपाय नहीं निकाला जिससे बाल या वृद्ध किसीको ठंढ लगनेकी स्थिति ही न रह जाय। यह 'ठंढ लगना' दरअसल क्या है, इसे अच्छी तरह समझनेके लिए इस संबंधमें कुछ विशेष कहना आवश्यक है।

मान लीजिए फौजकी कोई टुकड़ी किसी ठंढे और खुले प्रदेशमें कुछ दिनोंके लिए भेजी जाती है। टुकड़ीके सैनिक प्रायः समवयस्क और बहुत कुछ एक ही—जैसे स्वास्थ्यवाले होते हैं। टुकड़ीके वापस आनेपर इस स्थानके मौसम या जल-वायुका प्रभाव सैनिकोंपर विभिन्न रूपोंमें देख पड़ेगा। कुछ सैनिकोंको सर्दी-जुकामकी शिकायत होगी, कुछको सिरदर्द होगा, कुछके अंगोंमें दर्द होगा, पर कुछ लोगोंका स्वास्थ्य पहलेसे अच्छा हो गया रहेगा और कुछकी तो सिरदर्द वगैरहकी छोटी-मोटी तकलीफें बिलकुल दूर हो गयी रहेंगी। इन सभी बातोंका कारण इस स्थानका जलवायु या मौसम बतलाया जायगा और ऐसा कहना उनकी समझमें

ठीक भी होगा, क्योंकि ठंढे और खुले मैदानमें रहना ही इन परिवर्तनोंका तात्कालिक और प्रत्यक्ष कारण हुआ है; पर दरअसल स्थान या जल-वायु इसका प्रमुख कारण नहीं है; क्योंकि यदि वही प्रमुख कारण होता तो एकके पूर्णतः स्वस्थ और दूसरेके अस्वस्थ हो जानेकी स्थिति न उत्पन्न हुई होती। शताब्दियोंसे लोग इन परस्परविरोधी स्थितियों या परिणामोंके कारणका पता नहीं लगा पाये और रोग दिनोंदिन बढ़ते ही गये।

ये रोग प्रायः शरीरके एक ही पार्श्व—एक हाथ, एक पैर, एक कंधेमें हुआ करते हैं। इनका यह रूप ही यह स्पष्ट कर देता है कि मौसम या जलवायु मुख्य कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मौसमके प्रभावकी दृष्टिसे सभी अंगोंकी स्थिति एक ही—जैसी होती है। प्रायः ऐसा होता है कि खिड़कीकी ओर ठंढो हवाके मार्गमें रहता है दाहिना हाथ, पर रोग होता है बायें हाथमें जो हवाके मार्गमें न होकर सुरक्षित स्थितिमें रहता है इसलिए रोगके समुचित उपचारके लिए वास्तविक कारणका ज्ञान होना परमावश्यक है।

सर्वप्रथम इस बातकी खोज होनी चाहिए कि इन रोगोंके कौन-कौनसे लक्षण और रोगोंमें सामान्य रूपमें पाये जाते हैं। रोगीकी परीक्षा करनेपर तीन बातें मुख्य रूपमें पायी जाती हैं—(१) ज्वर, (२) दर्दके साथ सूजन और (३) पाचनमें गड़बड़ी। वातरोगमें, विशेष-कर संधिवातमें एक विशेष स्थलपर सूजन और पीड़ा होती है। यह स्थिति हमें मूल कारणके कुछ निकट पहुँचा देती है। संधिवातमें पीड़ा संधिके नीचे ही देख पड़ती है, ऊपर कभी नहीं। यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती, कोई कारण अवश्य होगा।

विजातीय द्रव्य बाहर निकलनेके प्रयत्नमें ज्वर उत्पन्न किये बिना भी शरीरमें फैलता है। नातिशीतोष्ण और ठंढे देशोंमें प्रौढ़ लोगोंके शरीर-में प्रायः ऐसा होता रहता है। गर्मीसे फैलना और ठंढसे सिकुड़ना पदार्थ-का साधारण धर्म है। शरीरमें भी यही प्राकृतिक नियम चलता है।

ठंढकी मात्रा बढ़ जानेपर शरीरमें फैला हुआ विजातीय द्रव्य पुनः अपने उद्गमस्थान—उदरकी ओर जानेका प्रयत्न करता है, पर संधियोंके बराबर गतिशील रहनेके कारण उसका मार्ग बहुत कुछ अवरुद्ध हो जाता है और वह संधियोंके नीचे जमा होने लगता है। रुकावटपर दबाव पड़नेपर उनमें पीड़ा होने लगती है। विजातीय द्रव्यकी गति उद्गम-स्थानकी ओर होनेसे वह हमेशा संधिके नीचे ही देख पड़ता है। यदि सैनिकोंकी स्थितिपर हम पुनः ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनकी अस्वस्थताका कारण उनके शरीरके अंदर ही वर्तमान था, मौसम तो केवल प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इसलिए रोगके लक्षण भी शरीरके उसी भागमें देख पड़ते हैं जहां यह द्रव्य एकत्र रहता है।

इस प्रकार संधिवातका कारण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। इस रोगसे ग्रस्त व्यक्तिका उपचार करनेके लिए केवल रोगवाले भागका उपचार करना बिलकुल निरर्थक होगा। दर्द कम करनेके विचारसे उस विशेष भागका वाष्प-स्नान कराया जा सकता है। इससे द्रव्य तरल अवस्थामें आ जायगा और उसका मार्ग खुल जायगा, पर रोगको पूर्णरूपसे दूर करनेके लिए विजातीय द्रव्यको मलमार्गोंके पास लाकर बाहर निकालनेका उपाय करना पड़ेगा।

एक ही पार्श्वमें रोग होनेका कारण एक ही ओर विजातीय द्रव्यका एकत्र होना है। कहा जा सकता है कि विजातीय द्रव्य तो सारे शरीरमें फैलनेका प्रयत्न करता होगा। यह ठीक है, पर ऐसा तभी होता है जब एक पार्श्व विजातीय द्रव्यसे इतना लद जाता है कि अधिकके लिए और गुंजाइश नहीं रह जाती। इस प्रकार उस पार्श्वमें विजातीय द्रव्य बहुत दिनोंतक मौजूद रहता है। पदार्थ सर्वदा गुरुत्वाकर्षणके नियमका पालन करता है। शरीरके संबंधमें भी यही नियम लागू होता है। शीशेकी बोतलमें साफ पानी भरकर रख दीजिए। दूसरे दिन देखनेपर यह पता नहीं चलेगा कि बोतल कैसे रखी गयी थी, पर अगर उसमें कुछ पंक घोल दिया जाय तो दूसरे दिन पंकके जमनेसे स्पष्ट हो जायगा कि बोतल

किस बल रखी गयी थी। अगर उसमें किसी चीजका तेज खमीर डाल दिया जाय तो पंकवाले हिस्सेमें खमीर भी पैदा होने लगेगा। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है, जहां पंक होगा वहीं खमीर भी उठेगा। अगर खमीर न डालकर उसे गर्मीमें रखा जाय तो भी खमीर उठेगा, पर इसके लिए कुछ समय अपेक्षित होगा। शरीरमें भी यही प्रक्रिया चलती है।

विजातीय द्रव्य उसी पार्श्वमें एकत्र होता है जिस करवट आदमी सोता है। स्वस्थ व्यक्तिको देखकर हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि वह कैसे सोता है। वह चाहे जिस करवट सोये, उसके शरीरमें कोई अंतर नहीं आयेगा। विजातीय द्रव्य मौजूद होनेपर आकृति-विज्ञानके सहारे यह आसानीसे मालूम किया जा सकता है कि व्यक्ति किस करवट सोया करता है। मात्रा बहुत अधिक होनेपर विजातीय द्रव्य इधर-उधर फैलने लगता है और तब व्यक्ति बेचैनीसे छटपटाने लगता है, किसी बल सोनेपर उसे शांति नहीं मिलती, जिस पार्श्वमें विजातीय द्रव्य लदा होगा उसपर मौसमका असर भी अधिक और आसानीसे होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस हाथमें ठंढी हवा लगी थी उसमें कोई तकलीफ न होकर दूसरे हाथमें क्यों हुई।

किसी पार्श्वमें विजातीय द्रव्यके एकत्र होनेमें काफी समय लगता है; बोतलवाले पंककी तरह अल्प कालमें ही यह बात नहीं हो जाती। बच्चे प्रायः एक पार्श्वमें द्रव्य लिये हुए उत्पन्न होते हैं। यह माताके बराबर एक बल सोने या गर्भमें बच्चेकी स्थितिके कारण होता है।

मुझे एक ऐसा रोगी मिला जिसका रोग तो उतना भीषण नहीं था, पर उसके लक्षण बड़े गंभीर थे। घुटनेके ऊपर नीचे सूज गया था और वहां भयंकर पीड़ा थी। उसे यह रोग हर साल होता था और हर साल उसका कुछ रूप बढ़ा ही हुआ होता था। उसका शरीर सिरसे पैरतक विजातीय द्रव्यसे लदा हुआ था, नया घुटनेकी ओर बढ़नेका प्रयत्न कर रहा था और पुराना लौटनेका। यह द्रव्य अल्प कालमें ही वहां जमकर कठिन हो जाता और तब यह संधिवातका रूप धारण कर

लेता। उस जगह गर्मी पहुँचानेसे फायदा हो जाया करता था, पर रोग क्रमशः जीर्ण ही होता जा रहा था। पहले उस हिस्सेका वाष्प-स्नान कराकर द्रव्य नरम किया गया, फिर कटि और मेहनस्नानद्वारा द्रव्य बाहर निकाला गया, तब कहीं वह व्यक्ति स्वस्थ हुआ।

एक स्त्री हाथ और पैरके संधिवातसे बहुत परेशान थी। उसने बहुत कुछ चिकित्सा की, पर सब व्यर्थ। मैंने उसे बतलाया कि रोगका मूल कारण पाचनकी खराबी है। उसे रोज तीन बार मेहनस्नान करने और उपयुक्त आहार लेनेकी राय दी जिसमें शरीरमें नया विजातीय द्रव्य न आने पाये। कुछ ही दिन यह उपचार चलानेके बाद संधियोंमें ठंढकी जगह गर्मी आ गई और ठंडे जलके स्नानसे शरीरमें ठंड न आकर तापका ही संचार हुआ; क्योंकि विजातीय द्रव्यके बाहर निकल जानेपर रक्त-संचलन ठीक-ठीक होने लगा। कुछ दिनोंमें संधियोंकी भी गर्मी दूर हो गयी और शरीरका ताप साधारण हो गया।

सत्तर सालकी एक बुढ़ियाकी हालत तो इससे भी बदतर थी। वह तीन सालसे खाटपर पड़ी हुई थी। वह खाती तो थी, पर उसकी आंतें खराब हो गयी थीं और मलमार्ग अपना काम उचित रूपमें नहीं कर रहे थे। जबतक वह दुकानमें काम करती रही, उसका स्वास्थ्य ठीक रहा, पर काम छोड़ देनेपर शारीरिक परिश्रम कम पड़ जानेसे उसकी पाचनशक्ति मंद पड़ गयी और आंतें खराब हो गयी। सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि संधिवातने उसे धर दबाया। नहानके बाद उसे बिस्तरपर लिटाकर पसीना लानेका प्रयत्न किया जाता और इस उपचारसे वह कुछ ही दिनोंमें बिलकुल स्वस्थ हो गयी।

गृध्रसीका रूप इससे भी भयंकर होता है। इसका भी कारण वही होता है जो संधिवातका। इसमें कटिसंधिमें प्रदाह और पीड़ा होती है। इसके उपचारकी विधि भी वही ऊपरवाली है। एक व्यक्ति इस रोगसे बहुत परेशान था। पहले उसका बायां नितम्ब कुछ कड़ा हुआ, फिर मेरुदंडका निम्नभाग और अन्ततः सारा शरीर ही कड़ा पड़ गया।

अंगोंमें भयंकर पीड़ा रहती जिससे अंग-संचालन भी कठिन हो गया। जूते पहनने, निकालनेमें भी उसे अपार कष्ट होता। नगरके बाहरके प्रसिद्ध चिकित्सकोंने उसकी चिकित्सा की, विश्वविद्यालयके अध्यापकोंने भी अपने छात्रोंको इस रोगको एक विशेष रूप कहकर दिखलाया पर कोई
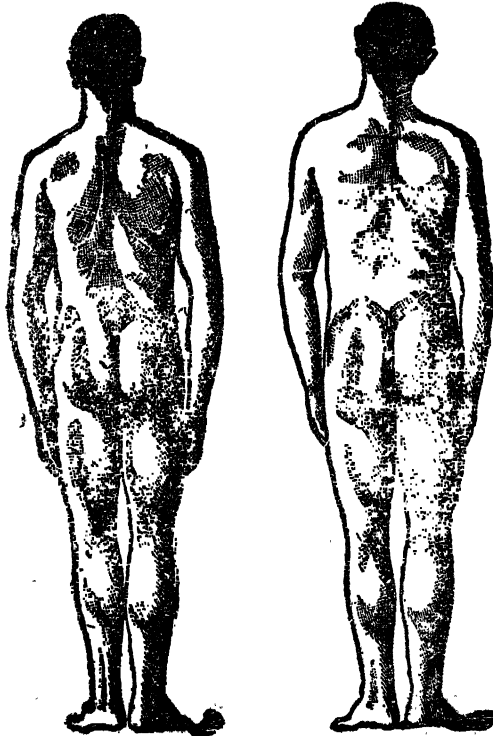
चित्र १ चित्र २

उसे जरा भी राहत नहीं पहुँचा सका। मेरी विधिसे चिकित्सा करने-पर उसे पहले ही दिनसे लाभ होने लगा और कुछ ही दिनोंमें वह बिल्कुल ठीक हो गया।

विजातीय द्रव्यके विशेष भागमें एकत्र होकर कठिन पड़ जानेपर

आकृतिमें—मेरुदंड, कंधे आदिमें परिवर्तन हो जाता है। विजातीय द्रव्यके यह रूप ग्रहण करनेमें काफी समय लगता है। कभी-कभी तीव्र रोगके कारण कुछ विजातीय द्रव्य निकल जानेपर रूप-विकृति कुछ कालके लिए दूर हो जाती या कम पड़ जाती है। इस प्रकार आकृतिमें स्पष्ट परिवर्तन होनेमें वर्षों लग जाते हैं। जो विजातीय द्रव्य कभी मसूरिका, कभी सन्निपात ज्वर और कभी किसी दूसरे रूपमें प्रकट हुआ करता है वही जब किसी कारणसे बाहर न निकलकर किसी भागमें एकत्र हो जाता है तो आकृतिमें परिवर्तन कर दिया करता है। वह साधारणतः ऐसे ही भागोंमें एकत्र होता है जहां उसके कारण अंगोंको भरसक कोई बाधा न पहुँचे। गतिवाले स्थान से तो वह काफी दूर रहता है। इस विजातीय द्रव्यके कारण जो रोग होता है वह अधिक कष्ट-दायक नहीं होता। बाह्य परिवर्तन प्रत्यक्ष होनेपर तरह-तरहके कारणों-की खोज और कल्पना की जाने लगती है। पेशा और एक स्थितिमें बैठना प्रायः इसका कारण माना जाता है। यह सहायक तो हो सकता है, पर मूल कारण विजातीय द्रव्य ही होता है। स्वस्थ व्यक्ति चाहे जैसे बैठे-लेटे उसके शरीरमें कोई परिवर्तन नहीं होगा।

देहातमें लोग दिनभर झुके रहकर खेतमें काम करते हैं, पर सीधे खड़े होनेपर उनके शरीरमें कोई झुकाव नहीं रहता। अगर वे स्वस्थ न होते तो विजातीय द्रव्यका प्रभाव उनके शरीरपर भी अवश्य पड़ा होता। अधिकांश लोग इस प्रकारकी विकृतिको पोशाक आदिके जरिये छिपाने-की कोशिश करते हैं, पर वे इस प्रयत्नमें अधिक दिनोंतक सफल नहीं हो पाते। पेशे, आदत, सोनेकी स्थिति आदिके कारण विकृतिके रूपमें विभिन्नता देखी जाती है, ऐसे दो व्यक्ति शायद ही देख पड़ें जिनकी आकृतिमें एकरूपता हो।

चित्र १ लगभग साधारण रूपवाले मनुष्यका है। इसके सारे अंगों-में समानुपात है—न कोई बड़ा है न छोटा, न मोटा न पतला। सारा शरीर सुडौल है।

चित्र २ एक भिन्न ही रूप प्रकट करता है। परिवर्तन बायीं ओर स्पष्ट रूपसे देख पड़ता है। नितंब ऊपर-नीचे कुछ बढ़ गया है। विजातीय द्रव्य उदरमें एकत्र होनेके कारण इस निकटतम भागमें उसका पहुंचना स्वाभाविक था। यहां बहुत दिनोंतक रुकनेके बाद ही वह कंधेकी ओर बढ़ा होगा। अगर लोगोंका ध्यान इस वृद्धिकी ओर गया होता तो उचित समयपर उपचार आरंभ हो गया होता। ऐसे रोगमें कोई दोषी ठहराया भी नहीं जा सकता क्योंकि लोगोंको इसके उपचारका ज्ञान ही नहीं था। इस प्रकारकी आकृतिवालेको लोग 'विकलांग' कह दिया करते हैं। बस, यह विकृति कैसे और क्यों आयी आदि बातोंकी पहले कभी खोज नहीं की गयी। मेरी नयी पद्धति इस संबंधमें निरुपाय नहीं है, वह आरोग्य प्रदान करनेमें पूर्णतः सफल हुई है।

इस व्यक्तिमें विजातीय द्रव्य वाम पार्श्वमें एकत्र हुआ है—ठीक उसी तरह जैसे बोतलमें। द्रव्यको अधिक स्थानकी जरूरत थी, पर मार्ग न पाकर दबावके कारण एक जगह एकत्र होता गया। अगर यह स्थिति बनी रही तो वह और बढ़ता और फैलता जायगा। नितंबकी वृद्धिके पहले ही गलेका बायां हिस्सा कुछ बढ़ गया रहा होगा। यह वही द्रव्य है जो मसूरिका, सन्निपात, ज्वर आदिका कारण हुआ करता है। इसे बाहर निकाल देनेपर सभी प्रकारके रोगोंसे आसानीसे बचा जा सकता है।

इसी प्रकार दोनों नितंबों और धड़की भी वृद्धि हो जाती है और गर्दन तथा पैर छोटे पड़ जाते हैं। गर्दनका कुछ हिस्सा कंधोंमें छिप-जाता है और उनके भर जानेपर द्रव्य सिरकी ओर बढ़ जाता है। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि पैर और हाथ काफी बढ़ जायें और धड़ छोटा पड़ जाय। यह छोरोंकी ओर द्रव्यके बढ़नेका परिणाम होता है। पचास वर्षके एक व्यक्तिका धड़ बहुत बढ़ गया था और गर्दन तथा पैर छोटे पड़ गये थे। मेरी चिकित्सा आरंभ करनेपर उसके शरीरकी आकृतिमें क्रमशः परिवर्तन होने लगा। उसका पाजामा

पैरोंमें छोटा होने लगा, कोट भी कंधेके पास ढीला पड़ने लगा। कुछ ही दिनोंके उपचारके बाद उसका शरीर साधारण रूपमें आ गया। इस पद्धतिसे इस प्रकारका फल प्राप्त किया जा सकता है, इसकी पहले कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। हां, इसके लिए बहुत दिनोंतक
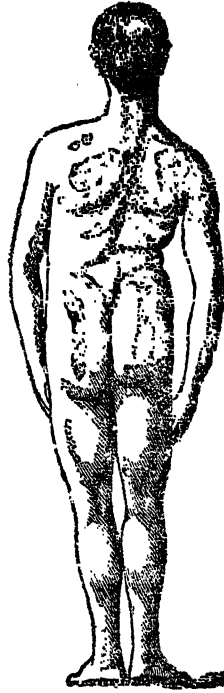
चित्र ३ चित्र ४

लगातार उपचार करनेकी जरूरत है। अगर रोग बहुत पुराना और जीवशक्ति कम हो गयी हो तो नीरोग होनेकी आशा कम रहेगी।

चित्र तीनवाली विकृति बहुत कम देख पड़ती है। पीठ निकल गयी

है और सीना धंस गया है जैसे आगेका हिस्सा लेकर पीछेकी ओर जोड़ दिया गया हो। पीठका भार कम हो जानेपर सीना निकल आयेगा। कभी-कभी यह भार शैशवावस्थामें ही आरभ हो जाता है। उस समय यह रोग बड़ी आसानीसे दूर किया जा सकता है।

चित्र ५

कभी-कभी यह विजातीय द्रव्य मार्गसे हटकर इधर-उधर भी जा पड़ता है और वहीं जमा हो जाता है। चित्र चारमें यह बात स्पष्ट रूपसे देखी जा सकती है। द्रव्य मुख्यतः बायीं ओर जमा हुआ है, पर उस ओरका मार्ग अवरुद्ध हो जानेपर दाहिनी ओर चला आया है और वहांसे फिर बायीं ओर पहुंचा है। बायीं ओर तो ऊपर-नीचे, पर दाहिनी ओर बीचमें बढ़ा है। मेरुदंड भी वक्र हो गया है। अगर पट्टी या

किसी यंत्रका उपयोग किया जाय तो लाभ तो कुछ होगा नहीं; वह व्यर्थ ही कष्टका कारण होगा। दबानेकी ज्यादा कोशिश करनेपर द्रव्य सीनेकी ओर निकल आयेगा। शरीरमें रहनेपर उसके लिए कहीं-न कहीं स्थान होना ही चाहिए, इसलिए बाह्योपचार होनेपर केवल उसके स्थानमें परिवर्तन हो सकता है।
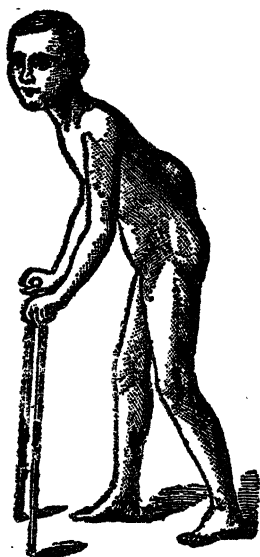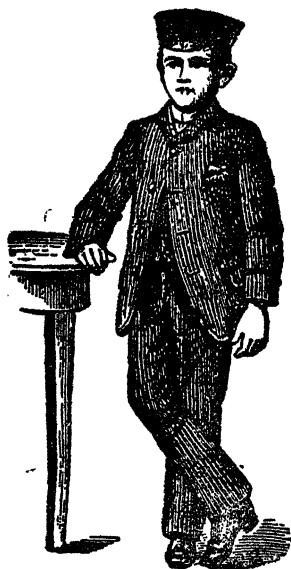
चित्र ६ चित्र ७

चित्र ५में विजातीय द्रव्य पीठपर एकत्र हुआ है और उसने ढांचेको स्थायी रूपसे टेढ़ा कर दिया है। ऐसा शायद ही कभी होता है; क्योंकि विजातीय द्रव्य हमेशा अंगोंके छोरकी ओर बढ़नेको प्रयत्न करता है।

चित्र ६वाले बालककी पीठ इसी कारण टेढ़ी पड़ गयी थी और वह दो छड़ियोंके सहारे बड़ी कठिनाईसे दो-चार कदम चल पाता था। कहीं आना-जाना तो उसके लिए असंभव ही था। एक डाक्टरने वृद्धिके स्थानपर चीरा लगाकर लड़केको व्यर्थ ही कष्ट पहुंचाया। मेरी पद्धतिके अनुसार उपचार करनेपर दो सप्ताहमें उसे छड़ियोंकी जरूरत नहीं रही और चौथा सप्ताह व्यतीत होते-होते वह स्कूल जाने योग्य हो गया। (चित्र ७)

भाग २

# ठंढे हाथ-पैर--गर्म सिर

कुछ लोगोंके हाथ-पैर ठंढे और सिर गर्म रहा करता है। पहले कहा जा चुका है कि बिना ज्वरके कोई रोग नहीं होता और बिना रोगके ज्वर भी नहीं होता। इसलिए मेरे सिद्धांतानुसार यह भी ज्वरकी ही अवस्था है। सिरका गर्म होना तो ज्वरका लक्षण है ही, अलबत्ता हाथ-पैरका ठंडा होना ज्वरमें नहीं देखा जाता। मेरी समझमें दोनों बातें एक ही प्रकारसे होती हैं। विजातीय द्रव्यका खमीर उदरसे निकलकर सारे शरीरमें पहुंचता है और उसका थोड़ा-थोड़ा अंश सिर, हाथों और पैरोंमें जमा हो जाता है। पैरोंमें इसका बहुत कम प्रतिरोध होता है। यह पहले अंगुलियोंमें जमा होता है और तब ऊपर बढ़कर घुटनोंतक पहुंचता है जिससे रक्त-संचारमें कमी आ जाती है और इसके फलस्वरूप उस भागमें गर्मी कम पड़ जाती है। हाथोंके संबंधमें भी यही बात होती है। कुछ लोगोंकी अंगुलियोंका केवल अग्रभाग ठंढा होता है, कुछका एक ही पैर, पर कुछ दिनोंके बाद दोनों पैरोंकी हालत एक-सी हो जाती है और ठंढा घुटनोंतक पहुंच जाती है। गर्म मोजे या पट्टियां बहुत दिनोंतक मदद नहीं करतीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कपड़ेके कारण शरीरमें गर्मी नहीं पहुंचती बल्कि शरीर ही कपड़ेको गर्म रखता है। कपड़ेसे गर्मी पहुंचानेका अर्थ यह होता है कि शरीरमें गर्मी मौजूद है, वही निकलकर कपड़ेमें जाकर रुकती है। रक्तका संचलन और स्वेद निकलना बंद हो जानेपर गर्म-से-गर्म कपड़ा भी बेकार साबित होता है। सिरकी स्थिति इससे भिन्न होती है। भेजेमें रक्त अधिक होनेके कारण वहां विजातीय द्रव्यका प्रतिरोध हाथ-पैरकी अपेक्षा अधिक होता है। संघर्ष अधिक

होनेके कारण गर्मी भी अधिक होती है। जिस कारणसे हाथ-पैर ठंढे पड़ जाते हैं उसी कारणसे सिर पहले गर्म होता है। यह गर्मी कुछ ही दिनोंमें समाप्त हो जाती है। विजातीय द्रव्यका दबाव बढ़ने और प्रतिरोध समाप्त हो जानेपर सिर भी ठंढा हो जाता है। अगर हाथ-पैरमें ठंढ और सिरमें जलन-सी मालूम हो तो खमीर बननेके मूल स्थान उदरका उपचार करना चाहिए। पाचनक्रिया ठीक हो जानेपर हाथ-पैर तो गर्म और सिर ठंढा रहेगा। ऊपरी अवस्था जिन लोगोंकी होती है उनको संधिवात आदि होनेकी संभावना अधिक रहती है।

## आकृति-विज्ञानद्वारा निदान

मेरे बहुतसे रोगी अन्य सारी चिकित्सा-पद्धतियोंकी आजमाइश कर लेनेके बाद आखीरमें मेरी सहायता लेने पहुंचते हैं। इस परिस्थितिने औषधोपचार-पद्धतिके निदानमें अच्छी अंतर्दृष्टि प्रदान कर दी है। एक बार एक अच्छे डील-डौलका लंबा आदमी, जिसे सब लोग स्वास्थ्यकी प्रतिमूर्ति ही कहते, मेरी राय लेने आया। कई चिकित्सक उसके स्वास्थ्यकी पूरी जांचकर इसी नतीजेपर पहुंचे थे कि वह पूर्णतः स्वस्थ है—उसे कोई रोग नहीं जान पड़ता और चूंकि उसकी बीमारी—सिर्फ खयाली है इसलिए उसके लिए यही सबसे अच्छा उपाय होगा कि वह कहीं सफरमें निकल जाय, जिसमें उसका खयाल बदल जाय और तब उसे रोगका भूत नहीं सतायेगा। उसने उनके आदेशका पूरा-पूरा पालन किया, पर उससे कोई लाभ न होनेपर वह मेरे पास आया। उसका सिर और गर्दन देखने और सिरके दाहिने-बायें घूमते समय गर्दनकी परीक्षा करनेपर मुझे साफ-साफ पता चल गया कि उसका सारा शरीर विजातीय द्रव्यसे बुरी तरह भरा हुआ है। मैंने उसे अपना साधारण उपचार चलानेको कहा और छह सप्ताहमें ही यह विजातीय द्रव्य इतना अधिक निकल गया कि वह दिनभर काम करने योग्य हो गया। इससे आप समझ सकते हैं कि किसका निदान अधिक व्यावहारिक था।

अट्ठारह सालकी एक लड़की हरित् रोगसे पीड़ित थी। डाक्टरोंका कहना था कि कुछ-कुछ हरित् रोग है, यों वह बिलकुल ठीक है, वह लौहका सेवन करे तो जल्दी ही स्वस्थ हो जायगी। उसने लौहका सेवन तो किया, पर इससे उसकी हालतमें कोई सुधार नहीं हुआ। मेरा आकृतिविज्ञान कह रहा था कि उसका हरित् रोगसे ग्रस्त होना और बिलकुल ठीक भी होना—दोनों बातें साथ नहीं हो सकती; उसका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ था। रक्तकेशिकाओंके अवरुद्ध होनेके कारण रक्त त्वचाके ऊपरी भागमें पर्याप्त परिणाममें नहीं पहुँच रहा था जिससे त्वचा पीली और अस्वस्थ देख पड़ रही थी। इस रोगका कारण पाचनका वर्षों पुराना विकार था जिसे उसने खुद स्वीकार किया। दुर्भाग्यवश बहुतेरे लोग यह नहीं जानते कि पाचनकी साधारण अवस्था वस्तुतः क्या है। इसी वजहसे वे इसका महत्त्व भी नहीं समझ पाते। मुझे अपने चिकित्सक कार्यमें रोज ही इस बातका अनुभव होता है। इसके लिए भी मैंने यही ऊपरवाला उपचार चलाया और कुछ ही महीनोंमें सारी खराबी दूर हो गयी और उसकी शक्ल बदल गयी। इस रोगकी वास्तविक अवस्थाके संबंधमें भी औषध-विज्ञानका निदान बिलकुल गलत निकला; क्योंकि हरित् रोग तो मूल रोगका बाह्य लक्षणमात्र था जिसे विकृत पाचनसे उत्पन्न विजातीय द्रव्यने प्रस्तुत किया था। इस अवस्थाका निश्चय मैंने लड़कीके सिर और गर्दनकी शक्ल देखकर किया था जिसकी ओर औषध-विज्ञानके प्रतिनिधियोंका ध्यान भी नहीं जा सका था।

एक उदाहरण और। एक औरत मेरे पास आयी जो कब्जसे बेतरह परेशान थी और कब्ज किसी तरह जानेका नाम ही नहीं ले रहा था। कोई दवा अब काम नहीं कर रही थी। डाक्टरने कह दिया था कि चिंता करनेकी जरूरत नहीं है, स्वस्थ लोगोंको भी कब्ज रहा करता है और यह आप-ही-आप ठीक हो जायगा। इस स्त्रीके शरीरमें विजातीय द्रव्य बहुत अधिक परिमाणमें भरा हुआ था जिसके कारण जीर्ण ज्वरका ताप अंदर, विशेषकर उदरमें बराबर बना रहता था। यही आंतोंसे निकलने-

वाले श्लेष्माको सुखाकर मलको करीब-करीब जला डालता था जिससे वह शुष्क और कड़ा होकर आंतमें रुका रह जाता था। मेरा उपचार शुरू करनेपर बहुत थोड़े समयमें, आरंभिक स्नानोंसे ही अंदरका ताप बाहरकी ओर खिंच आया और आंत मलविसर्जनका कार्य करने लगी। इसमें भी औषध-विज्ञानके निदानके तरीकेकी अनुपयुक्तता स्पष्टतः देख पड़ती है। कब्जसे पीड़ित व्यक्तिको पूर्णतः स्वस्थ कहना ऐसी हानि-कारक और व्यापक भूल है जैसी और कोई शायद ही हो। रोगविषयक यह मान्यता सत्यसे कितनी दूर है! यह तो बच्चोंका-सा देखना हुआ। जिनकी दृष्टि बाहरी चिह्नोंतक ही सीमित रहती है, उनकी वहतक नहीं पहुंच सकती। मेरी तो यही मान्यता है कि पाचनकी विकृति ही सारे रोगोंकी जननी है।

एक सुयोग्य चिकित्सकने मुझसे एक बार कहा था कि शरीर-संस्थान-की परीक्षा करते समय मैं प्रायः यह जाननेके लिए दिमाग लड़ाता रहा हूं कि रोगीकी मृत्यु इसी रोगसे क्यों हुई, किसी अन्य रोगसे क्यों नहीं हुई। शरीरके सारे हिस्सों और अंदरके अंगोंको भी ठीक हालतमें पाता हूं, थोड़ा भी किसी रोगका चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। मैंने अपने और उसके निदानका अंतर स्पष्ट करते हुए उसे बतलाया कि औषधोपचारक तो मुख्यतः शवच्छेदके जरिये सीखना चाहते हैं, पर मैं जीवित शरीरमें होनेवाली क्रियाओं, उनके कारणों और उनमें पड़नेवाली बाधाओंका अध्ययन करता हूँ, इसलिए शवकी परीक्षा मेरे लिए बिलकुल बेकार है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि कोई आदमी सिलाईकी मशीन खरीदना चाहता है। वह दुकानमें रखी हुई अच्छी मशीनोंको देखकर एक पसंद कर लेता है। उसमें उसे ऊपरसे कोई खराबी नहीं देख पड़ती, छोटे-से-छोटा पुरजा भी बढ़िया बना हुआ है। अब उसे कोई यह सुझाता है कि स्थिर रहते समय तो मशीन बिलकुल ठीक देख पड़ सकती है, पर उसकी खराबीका पता तो उसके चलनेपर ही लग सकता है, उसमें ऐसी कोई खराबी नजर आ सकती है

जो और किसी हालतमें तो लक्षित न हो, पर उसके कारण मशीन बिलकुल रद्दी समझी जाय; इसलिए उसे चालू करके देखना ही अच्छा होगा। मानवशरीरके संबंधमें भी यही बात लागू होती है। निष्क्रिय या यों कहिए कि मृत शरीरसे उसकी हालत समझना बिलकुल असंभव है। जीवितावस्थामें उसकी नियमितता या अनियमितता प्रत्यक्ष हो जाती है, इसलिए जो उसकी अनियमितताओं—रोगों और उनके विभिन्न लक्षणों-का अध्ययन करना चाहता है वह शवच्छेदसे अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, केवल जीवित शरीरके निरीक्षण-परीक्षणद्वारा कर सकता है। मेरा आकृतिविज्ञान जीवित शरीरके निरीक्षणोंपर ही आधृत है।

सभी प्रकार रोगोंकी एकता प्रमाणित हो जानेके बाद मैं यह कहने-की स्थितिमें हूं कि रोगोंके नाम और स्थानके संबंधमें किये जानेवाले, औषधविज्ञानके निदान निरे निरर्थक हैं और जहांतक आरोग्य-लाभका संबंध है वे बिलकुल बेकार हैं। वे हमें बड़ी आसानीसे गलत रास्तेपर ले जा सकते हैं। निश्चय करनेका प्रयत्न केवल यह है कि शरीर स्वस्थ है या रुग्ण—वह विजातीय द्रव्यसे मुक्त है या उससे भरा हुआ है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि यह विजातीय द्रव्य कैसे आया है और कबसे है जिसमें आरोग्य-लाभमें लगनेवाले समयका कुछ अंदाजा लगाया जा सके। रोगका सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जानेपर हमें यह भी मालूम हो जायगा कि स्वास्थ्य-लाभके लिए क्या करना चाहिए। इससे यह होगा कि उपचारके आरंभिक कालसे ही हम गलतियोंसे बहुत कुछ बचे रहेंगे।

# उपचारके साधन और विधि

कुछ रोगोंके लक्षण और कारण जान लेनेके बाद उन रोगोंसे मुक्त होनेके तरीकोंका कुछ ज्ञान करा देना आवश्यक जान पड़ता है। उपचार-में भी एकरूपताका ही सिद्धांत बरता जाता है; क्योंकि विभिन्न नाम-रूपधारी रोगोंका मूल एक है।

## वाष्पस्नान

पहला साधन वाष्पस्नान है। त्वचाको साधारण रूपमें कार्य करने योग्य बनानेके लिए वाष्पस्नान सर्वाधिक विश्वसनीय उपाय है। जो लोग अपना स्वास्थ्य बनाये रखना या बनाना चाहते हैं उनके लिए त्वचा-की उपर्युक्त स्थिति अनिवार्य रूपमें आवश्यक है।

वाष्पस्नानके लिए कोई ऐसी चौकी या बेंच बनवा लेना अच्छा होगा जिससे सुविधापूर्वक सारे शरीर या अंग-विशेषका वाष्पस्नान कराया जा सके। अगर सारे शरीरका वाष्पस्नान कराना हो तो तीन-

चार पात्रोंमें पानी उबाला जाय। रोगीको इस चौकीपर पीठके बल लिटा दिया जाय। बदनपर कोई कपड़ा न हो। कंबलसे सारा शरीर इस प्रकार ढक दिया जाय और उसके दोनों किनारे दोनों बगल लटकते

रहें। एक आदमी कंबल जरा उठाकर पात्रोंको नीचे रख दे। ढक्कन आवश्यकतानुसार पूरा या थोड़ा खोला जाय। प्रौढ़ोंके लिए तीन-चार पात्र आवश्यक होते हैं, बच्चोंका काम एकसे ही चल जाता है। एक पात्र अलग तैयार रहना चाहिए। एक पात्र कमरके नीचे, दूसरा पीठ और तीसरा पैरोंके नीचे होना चाहिए।

दस-बारह मिनट बाद वाष्पकी कमी पड़ने लगनेपर कमरके नीचेका पात्र बदल दिया जाय। पैरोंके नीचेका पात्र बदलनेकी जरूरत नहीं है। पंद्रह मिनटके बाद रोगीको सीनेके बल लेट जाना चाहिए। अगर अबतक पसीना नहीं निकला है तो अब अच्छी तरह निकलने लगेगा। सिर और पैरोंसे पसीना साथ ही निकलेगा। बच्चोंके लिए पात्र बदलनेकी जरूरत नहीं है। जिन लोगोंको पसीना जल्द नहीं निकलता उनका सिर ढका रहना चाहिए। यह बुरा नहीं मालूम होगा। पंद्रहसे तीस मिनटतक पसीना निकलना जारी रखा जा सकता है। जिन अंगोंपर विजातीय द्रव्य अधिक लदा होगा उनसे पसीना मुश्किलसे निकलेगा और रोगी स्वयं उन स्थानोंपर अधिक गर्मी पहुंचानेकी जरूरत महसूस करेगा। रोगीकी बातपर शीघ्र ध्यान देना चाहिए; क्योंकि इसी प्रकार शीघ्र आरोग्य प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग कमजोर हैं, जिसका रोग भीषण है या जिनमें नाड़ी-दौर्बल्य है उन्हें वाष्पस्नान नहीं कराना चाहिए। ऐसे लोगोंके लिए कटि और मेहनस्नानके साथ धूप-स्नान ही विशेष रूपसे लाभदायक हुआ करता है। जिनको आसानीसे पसीना निकल आता हो उनके लिए भी वाष्पस्नानकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

वाष्पस्नानके बाद शरीरको ठंढा करनेके लिए कटिस्नान करना चाहिए। आरंभमें या स्नान समाप्त करते समय फुर्तीसे शेष अंगोंको धो ढालना चाहिए जिसमें वे भी साफ और ठंढे हो जायं। शरीर जितना गर्म रहेगा ठंढका अनुभव उतना ही कम होगा। पसीना निकल आनेपर किसी तरहकी उत्तेजना नहीं रहती, केवल त्वचा गर्म हो जाती है। इस प्रकारके स्नानका कोई हानिकर प्रभाव होनेकी संभावना नहीं

रहती जैसे लोहेको भट्ठीमें लाल करनेके बाद आवश्यकतानुसार कड़ा करनेके लिए उसे पानीमें डुबाना पड़ता है ठीक वैसे ही वाष्पस्नानके बाद शरीर ठंढा किये जानेपर सशक्त और कठोर हो जाता है।
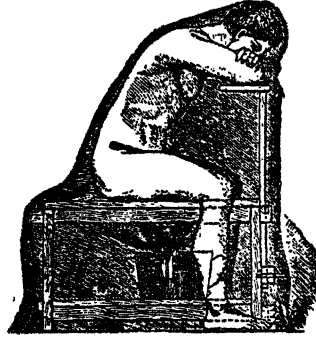
कटिस्नानके बाद भी कुछ पसीना निकालनेके लिए शरीरको फिर गर्म करना आवश्यक होता है। बलवान् व्यक्ति खुले मैदानमें, विशेषकर धूपमें व्यायाम कर बदनमें आवश्यक गर्मी ला सकते हैं, कमजोर लोगोंको
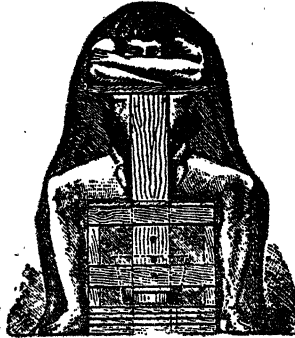
बिस्तरेपर लिटाकर कंबलसे ढंक देना चाहिए। कमरेकी खिड़की स्वच्छ हवाके लिए अंशतः खुली रहे।

मासिक स्राव तथा स्त्रीसंबंधी अन्य रोगोंमें उदरका वाष्पस्नान

विशेष रूपसे लाभदायक होता है। इसके लिए केवल एक पात्र आवश्यक होता है; यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो पात्र बदला जा सकता है। इसके बाद ठंढ लानेके लिए मेहन (उपस्थ) स्नान सबसे अच्छा होता है। स्नान तबतक जारी रखा जाय जबतक ठंढ न मालूम होने लगे। सावधानीसे चलानेपर यह वाष्पस्नान आश्चर्यजनक लाभ दिखलाता है।

गर्दन और सिरका वाष्पस्नान करानेके लिए पात्र बेंचपर रखकर सिर और गर्दनको तबतक वाष्प देते हैं जबतक पसीना न निकलने लगे। पसीना निकलनेपर दर्द, विशेषकर दांतका दर्द, गायब हो जाता है। सिर और सीना गर्म हों तो ठंढे पानीसे फौरन धो डालना चाहिए और कटि या मेहनस्नान भी करना चाहिए। अगर दर्द फिर वापस आ जाय तो बारी-बारीसे सारे शरीर और गर्दनका वाष्पस्नान करना चाहिए।

यह आंशिक वाष्पस्नान बड़े महत्त्वका होता है। कान, आंख, नाक, गर्दन और दांतकी तकलीफ इससे फौरन दूर हो जाती है। फोड़ों और प्रमेहपीडिका (कार्बंकल) में यह विशेष रूपसे लाभदायक होता है। इस आंशिक स्नानके लिए सुविधाजनक आसन बनवानेमें कोई कठिनाई नहीं होती। उदरके स्नानके लिए तो बेंतवाली कुर्सी ही काम दे सकती है। सिरका स्नान करनेके लिए एक दूसरे आसनपर बैठ जाइए और वाष्पवाला पात्र कुर्सीपर रखकर सिरको कुर्सीकी पीठसे टिका दीजिए। बदन तो प्रत्येक स्नानमें ढका रहेगा ही।

## धूपस्नान

धूपस्नान तेज धूपमें ही किया जा सकता है। रोगीको ऐसी जगह धूपमें केवल लंगोट पहनकर चटाईपर लेट जाना जाहिए जहां हवाका झोंका न आता हो। चेहरे, सिर और उदरको किरणोंसे बचानेके लिए केले या और किसी चीजकी पत्तीसे ढक लेना चाहिए। अगर पत्ती न मिले तो गीला कपड़ा काममें लाया जा सकता है।

स्नान आधेसे डेढ़ घंटेतक चल सकता है। अगर पसीना न निकले

और थकान न मालूम हो तो रोगी और देरतक रह सकता है । धूप बहुत अधिक तेज होनेपर स्नानका समय अधिक नहीं होना चाहिए।

जिनके सिरमें दर्द पैदा हो जाय या सिर चकराने लगे वे आरंभमें देरतक धूपस्नान न करें। यह हालत प्रायः उन्हीं लोगोंमें देख पड़ती है जिन्हें पसीना नहीं निकलता या देरसे निकलता है। धूपस्नानके बाद उससे ढीला पड़े हुए विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेके लिए कटि या मेहनस्नान आवश्यक होता है। कटि या मेहनस्नानके बाद जिनके शरीरमें जल्द गर्मी न आये वे सिर ढककर पुनः धूपमें थोड़ी देर बैठ जाये और चाहें तो धूपमें टहल भी सकते हैं। जिन लोगोंका रोग भीषण होता है या जो नाजुक होते हैं उन्हींमें यह बात देख पड़ती है । ऐसे लोगोंको चिकित्साके आरंभमें भरसक धूपस्नान नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनके लिए यह बहुत कड़ा पड़ता है।

धूपस्नानके लिए सबसे अच्छा समय नौ बजेसे तीन बजेतकका होता है। भोजनके बाद भी धूपस्नान किया जा सकता है, पर दो-एक घंटे रुककर करना चाहिए, क्योंकि पाचनके लिए गर्मी आवश्यक होती है जो धूपस्नानके बाद कटि या मेहनस्नानसे बहुत कम पड़ जाती है।

## आंशिक धूपस्नान

जख्म, काठिन्य, अर्बुद, दर्द आदिके लिए आंशिक धूपस्नान बहुत लाभदायक होता है। इस स्नानमें वह विशेष भाग निर्वस्त्र रखकर पत्तियों से ढक दिया जाता है ।

जल और संयत आहारके साथ-साथ धूप बहुत आरोग्यदायक चीज है। जीर्ण रोगमें विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेके लिए धूप-स्नानसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है । अगर फलालैनका गंदा कपड़ा धूपमें रखा जाय तो गंदगी उसके भीतर प्रविष्ट होती जायगी; लेकिन अगर उसे पानी और धूपमें बारी-बारीसे रखें तो धूप उसकी गंदगी बहुत कुछ दूर कर देगी। शरीरके संबंधमें भी यही बात लागू होती है।

धूप, पानी, हवा, मिट्टी—इन्हींके सम्मिलित प्रभावसे प्राणियोंका इस पृथ्वीपर जीना संभव है। पौधेको भी इन सबकी जरूरत होती है; अगर इनमेंसे एक भी न रहे तो वह मुरझा जायगा या उसकी वृद्धि रुक जायगी। अन्य जीवों तथा मनुष्यके साथ भी यही बात है। कुछ लोग पानी और धूपसे बहुत परहेज करते हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उनकी प्रकृति कोमल पड़ जाती है और शरीरमें रोग-ग्रहण-की प्रवृत्ति आ जाती है। तंदुरुस्त आदमीपर धूपका कोई बुरा असर नहीं होता; अस्वस्थ व्यक्ति बेचैनी मालूम होनेके कारण इससे बचना चाहता है। अगर मलमार्ग सशक्त न हों तो धूपके कारण विजातीय द्रव्यमें गति आ जानेपर सिरदर्द, चक्कर, सुस्ती, भारीपन आदि विकार पैदा हो जाते हैं। यह इस बातका सूचक है कि विजातीय द्रव्य तेजीसे इधर-उधर हट रहा है। बादमें कटि या मेहनस्नान न करनेपर केवल धूपस्नानसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती। पानीमें जीव-शक्ति बढ़ाने-का प्रभाव होता है। पौधे भी धूप और पानीके ही बारी-बारीसे पड़ने-वाले प्रभावसे बढ़ते हैं—केवल धूपमें मुरझा जायेंगे।

कुछ लोगोंका यह खयाल हो सकता है कि ढके बदनकी अपेक्षा खुले बदनपर धूपका असर ज्यादा होगा, पर यह भ्रम है। प्रकृतिकी ओर दृष्टिपात करनेपर यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि आप अंगूरकी लता-की ओर ध्यान दें तो देखेंगे कि अंगूर हमेशा पत्तियोंकी ओटमें जाकर सूर्यकी किरणोंसे बचना चाहते हैं। ऐसे ही फल बढ़िया और मीठे होते हैं, धूपवाले खट्टे और छोटे होते हैं। चेरी वृक्षकी भी यही हालत है। उसकी पत्तियां कीड़े चाट जाते हैं जिससे उसके फल अच्छे नहीं होते। पकते समय प्रत्येक फलको सूर्यकी किरणोंसे बचनेके लिए पत्तियोंकी ओट-की आवश्यकता होतो है। इन उदाहरणोंसे सूर्यके सीधे और वक्र प्रभाव-का अंतर बिलकुल साफ हो जाता है।

खुले सिरपर धूपका असर बुरा होता है। इससे तरह-तरहकी तक-लीफें पैदा हो सकती हैं। अगर शरीर कपड़ेसे ढका रहे तो शरीरके छिद्र

जल्द खुल जाते हैं, शरीर आर्द्र और गर्म हो जाता है और पसीना निकलने लगता है। अगर किसी गीली चीजसे निर्वस्त्र शरीरको ढक लें तो धूपकी क्रिया बहुत बढ़ जायगी। ताजी पत्तियां इसी प्रकारके आवरणका काम करती हैं।

यह बात लोग अच्छी तरह जानते हैं कि काले और सफेद कपड़ेके अंदर प्रवेश करनेवाली किरणोंका असर भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए कपड़ा इस्तेमाल किया जाय यह हरी पत्ती, या यों ही टाल देनेकी बात नहीं है। कई वर्षोंके प्रयोगसे यह सिद्ध हो चुका है कि पत्तीके नीचेका विजातीय द्रव्य जल्द हटने लगता है संधिवात, रक्ताल्पता, हरित रोग, क्षय आदिमें और उपचारोंके साथ धूपस्नान बहुत लाभदायक होता है।

## कटिस्नान

कटिस्नानके लिए नीचेकी आकृतिका एक टब लेकर उसमें इतना पानी डालिए कि उसमें बैठनेपर वह जंघों ओर नाभितक पहुंच जाय। पानीका तापमान ६४°से ६८° (फा०) तक हो। स्नान करनेवालेको

पैरोंको बाहर निकालकर पीठके बल बैठ जाना चाहिए और तौलिया भिगोकर पेड़ूको (नाभिसे नीचेके हिस्सेको) ऊपर-नीचे, दायें-बायें रगड़ना शुरू कर देना चाहिए। जबतक शरीर ठंडा न हो जाय यह क्रिया जारी रखनी चाहिए। आरंभमें पांचसे दस मिनटतकका स्नान काफी होता है, पीछे कुछ बढ़ा देना चाहिए।[1] निर्बलों और बच्चोंका स्नान कुछ ही

[1] पंद्रह मिनटसे अधिक समयतक यह स्नान नहीं लेना चाहिए और इतने समयतक भी वे ही स्नान ले सकते हैं, जो मोटे हों।—संपादक

मिनटोंका (एकसे पांच मिनटतकका) होना चाहिए। पैर और शरीरका ऊपरी भाग ठंढा नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि इन स्थानोंमें रक्तकी कमी होती है। जाड़ेके दिनोंमें स्नान करते समय इन हिस्सोंको ऊनी कंबलसे ढक लेना चाहिए। स्नानके बाद शरीरको तत्काल गर्म करना आवश्यक होगा है। इसके लिए खुली हवामें व्यायाम करना या टहलना सर्वोत्तम होता है। जो कमजोर या अधिक बीमार हैं उन्हें विस्तरपर लिटाकर खूब ढक देना चाहिए।

कटिस्नान प्रतिदिन एक या दो बार और अधिक-से-अधिक तीन बारतक किया जा सकता है। समय और पानीका तापमान रोगीकी अवस्थाके अनुसार होना चाहिए। कुछ अवस्थाओंमें कटिस्नानके बदले मेहनस्नान करना ठीक होता है और कुछमें दोनों।

## मेहनस्नान

मेहन (उपस्थ) स्नान स्त्री-रोगोंमें विशेष लाभदायक होता है। इसके लिए टबमें एक पाटा या स्टूल—जो लगभग एक बालिश्त ऊंचा हो—डालकर उसकी सतहके पासतक पानी भर देते हैं। पाटेका ऊपरी हिस्सा सूखा रखा जाता है। पाटेपर बैठ जानेपर छोटे गमछे या रूमाल-से जितना पानी उठ सकता है उठाकर मेहन या उपस्थ और उदरको हौले-हौले धोया जाता है। पहले एक-दो मिनट उदरको धो लेते हैं तब मेहन या उपस्थ (जननेंद्रिय) को धोते हैं। इसमें जननेंद्रियके बाहरका अगला चमड़ा ही धोया जाता है, भीतरका हिस्सा नहीं। आगे-पीछे कड़ाईसे रगड़ना नहीं चाहिए, केवल धोना चाहिए। यह कार्य पांच मिनटसे लेकर बीस मिनटतक किया जा सकता है। इसके बाद गर्दनसे नितंबतकके हिस्सेको ऊपर-नीचे धीरे-धीरे दो-तीन मिनटतक गीले कपड़ेसे रगड़ना या मलवाना चाहिए। शरीरका ऊपरवाला हिस्सा और पैर सूखे रहेंगे। इसमें व्यायामद्वारा या कपड़ा लपेटकर शीघ्र गर्मी पहुंचानेका प्रयत्न होना चाहिए। मासिक स्रावके समय स्नान बंद रखना चाहिए।

अगर स्राव असाधारण हो तो स्नान कराया जा सकता है, पर उसमें रोगीकी अवस्थाका विशेष रूपसे विचार करना पड़ता है। स्राव साधारणतः दो-तीन दिन और अधिक-से-अधिक चार दिन चलता है। अगर इससे अधिक हो तो समझना चाहिए कि अवस्था असाधारण हैं।

मेहनस्नानके काममें आनेवाले पानीका तापमान प्राकृतिक होना चाहिए। विशेष अवस्थामें अधिक तापवाला भी लिया जाता है। स्नानका समय रोगीकी उम्र और दशाके अनुसार दस मिनटसे एक घंटे[1] तक हो सकता है। जाड़ेके दिनोंमें कमरा भरसक ठंढा न रहे। पानी अधिक ठंढा रहे तो लाभदायक ही होता है, पर बर्दाश्तके भीतर ही होना चाहिए। गर्म देशोंमें यूरोप-जैसा ठंढा पानी नहीं मिल सकता, फिर भी जितना ठंढा मिले उसीसे काम चलाया जाय।

मेहनस्नानके लिए अगर ऊपर लिखे प्रकारका टब न मिले तो दूसरे प्रकारके टबसे भी काम चल जाता है। वह इतना बड़ा होना चाहिए कि मजेमें पाटेपर बैठा जा सके और बीस-पचीस सेर पानी अंट सके। कम पानी लेनेपर वह तुरंत ही गर्म हो जाता है जिससे स्नान उतना प्रभावकारी नहीं हो पाता।

पुरुषोंको मेहन (जननेंद्रिय) के अग्रभागका चमड़ा धोना चाहिए। बायें हाथकी तर्जनी और अंगूठेसे चमड़ेका अगला हिस्सा पकड़कर आगे हलके हाथों खींचे रहना चाहिए और रूमालसे पानी उठा-उठाकर धोना चाहिए।

अगर शरीरमें भीतर कहीं प्रदाह या विगलन होता हो या जीर्ण रोग तीव्रमें परिवर्तित हो रहा हो तो एक-दो बार स्नान करनेके बाद ही प्रदाह घर्षणके स्थानपर या उसके आस-पास पहुंच जाता है। यह कोई बुरा लक्षण नहीं है। वहां उत्ताप मालूम होनेपर कुछ चिंता न कर

[1]मेहनस्नानका बीस मिनटमें ही सारा लाभ मिल जाता है। इससे अधिक समय लगानेकी शायद ही कभी जरूरत होती हो।—संपादक

स्नान जारी रखना चाहिए। यदि पानी पाटेके दो-तीन अंगुल ऊपरतक रखा जाय जिसमें नितंबका कुछ हिस्सा पानीमें रहे तो प्रभाव और जल्द देख पड़ता है। इस हालतमें पानीका तापमान ५०° से ६६° (फारेनहाइट) तक होना चाहिए और सब क्रियाएं ज्यों-की त्यों होती हैं।

बहुतोंको यह बात विचित्र-सी मालूम होगी कि स्नानके लिए एक विशेष स्थान क्यों चुना गया है। बात यह है कि इस स्नानके लिए दूसरा कोई भाग इतना उपयुक्त होता ही नहीं। शरीरकी बहुत-सी प्रमुख नाड़ियोंका, जो मुख्यतः सुषुम्ना और इडावात नाड़ीकी शाखाएं हैं, वही अंत होता है। इन दोनोंका संबंध मेरुदंड और मस्तिष्कसे होनेके कारण मेहनके अग्रभागद्वारा सारे नाड़ी-संस्थानको प्रभावित किया जा सकता है। शरीररूपी वृक्षका मूल यही है। इसे ठंढे जलसे धोनेपर भीतरके विकारकी गर्मी तो समाप्त हो ही जाती है, नाड़ियां भी सशक्त होती हैं। इस प्रकार इसके द्वारा सारे शरीरकी जीव-शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है और शरीर अपना कार्य समुचित रूपमें करने योग्य हो जाता है। अपवाद वहीं होता है जहां नश्तर आदिके कारण नाड़ियोंका संबंध विच्छिन्न हो गया होता है।

यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि यह मेहन-स्नान केवल उन लोगोंके लिए है जो अस्वस्थ हैं। डाक्टरोंकी चिकित्सामें होनेवाली परेशानियोंपर ध्यान देते हुए निश्चित रूपसे नीरोग करनेवाले, सरल मेहन-स्नानको लोग अवश्य तरजीह देंगे। स्वस्थ व्यक्तियोंके लिए इसका कोई उपयोग नहीं।

मेहनस्नानका रहस्य समझनेके लिए प्रकृतिमें चलनेवाले समीकरणकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह भौतिक पदार्थोंतक ही सीमित नहीं है, बाह्य परिस्थितिके अनुसार मानव-शरीरके तापमानमें भी अंतर होता रहता है। विद्युत-प्रवाहकी तरह भीतरकी गर्मी बाहर और बाहरकी भीतर पहुंचती रहती है। इसके कारण तनाव भी आया करता है। ज्वरकी ही हालत ले लीजिए। इसका जोर बढ़नेपर मनुष्य-

की परेशानी बढ़नेके साथ ही रोगके लक्षण भी गंभीर होते हैं। जिस प्रकार तूफान ऊमस और परेशानीका कारण होता है उसी तरह शरीरके अंदर विजातीय द्रव्यका लदाव भी होता है। इसलिए समीकरणका प्रयत्न सर्वथा उपयुक्त और स्वाभाविक है। ऊंचे तापमानका कम तापमानके साथ समीकरण होनेके बाद जो फाजिल पड़े उसे कम करना आवश्यक होता है। इसी उद्देश्यसे ठंढे पानीसे मेहनस्नानका सिद्धांत रखा गया है। अगर इसके द्वारा अभीष्ट फलकी प्राप्ति न हो तो समझना चाहिए कि शरीरमें अब जीव-शक्ति नहीं रह गयी है।

अगर मशीनमें जंग लगनेकी तरह शरीरमें विजातीय द्रव्य भर जाय तो इसके फलस्वरूप पाचन-क्रिया मंद पड़ जाती है और आहारसे शरीरकी पोषकतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती जिससे स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जाता है और कार्य करनेके योग्य शरीरको बनाये रखनेके लिए अधिक और उत्तेजक आहारकी जरूरत महसूस होती है, पर इसका परिणाम उलटा ही हुआ करता है—पाचन-शक्ति और भी क्षीण होती जाती है।

अगर शरीरकी जीवशक्ति बढ़ाना अभीष्ट है तो पाचन-शक्ति बढ़ानेका उपाय करना आवश्यक है। मेरी जानकारीमें सर्वोत्तम उपाय प्राकृतिक आहारके साथ उपर्युक्त ठंढ लानेवाले स्नान ही हैं। अगर शरीरकी स्थिति संभलने योग्य है तो बिलकुल खराब हुआ पाचन भी इस उपायसे अन्य उपचारोंकी अपेक्षा कम समयमें ही सुधर जाता है।

ये स्नान विजातीय द्रव्यसे उत्पन्न ज्वरके तापको कम कर देते हैं जिससे रोगकी प्रगति रुक जाती है। जिस प्रकार वाष्पको उसके पूर्वरूप जलमें परिवर्तित करनेके लिए ठंढसे स्पर्श कराना पड़ता है उसी प्रकार विजातीय द्रव्यसे उत्पन्न होनेवाली गर्मीको, जिससे रोग आरंभ होता है, कम करनेके लिए विपरीत परिस्थिति उत्पन्न करना—ठंढद्वारा उसे शांत करना आवश्यक होता है। ये स्नान इसी उद्देश्यकी पूर्ति करते हैं। जैसे मशीन एक ही स्थलसे चालित और आवश्यकतानुसार द्रुततर तथा मंदतर

को जा सकती है वैसे ही मनुष्यकी शक्ति भी एक ही स्थलसे संचालित होती है। ठीक वही स्थल मेहन-स्नानके लिए चुना गया है।

इस उपचारसे सारे शरीरकी शक्ति बढ़ जाती है और यदि नाड़ियोंके संबंधमें कोई गड़बड़ी नहीं हुई है तो किसी एक अंगके दूसरे अंगकी अपेक्षा अधिक उत्तेजित होनेकी संभावना नहीं रहती। बहुतेरे इस शक्ति-वृद्धिका ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर पाते। तंबाकू पीनेवाले इन स्नानोंके बाद उसे छोड़ देते हैं और साधारणतः यह खयाल होता है कि उनकी पाचन-शक्ति कम हो गयी है; पर बात ठीक उल्टी होती है। शक्ति घट जानेके कारण आमाशय पहले निकोटीनका प्रतिरोध नहीं करता था, अब वह इस कार्यके लिए काफी सशक्त हो जाता है। शरीरके अवयवोंको मल बाहर निकालनेकी पूरी शक्ति प्राप्त हो जाती है और विजातीय द्रव्य मलमार्गोंसे स्वाभाविक रूपमें बाहर निकल जाता है।

मेहनस्नानके अलावा उदरपर गीली मिट्टीकी पट्टी लगानेसे भी बाहरी गर्मी शांत हो जाती है और विजातीय द्रव्य भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। चोट और घावमें भी यह पट्टी बहुत लाभदायक होती है।

किसीको यह न मान लेना चाहिए कि प्रत्येक रोगी इन उपचारोंसे नीरोग हो ही जायगा। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इन उपचारोंसे सभी रोग दूर किये जा सकते हैं, पर सभी रोगी नीरोग नहीं किये जा सकते। शरीरकी जीवशक्ति कम पड़ जानेके कारण जिनकी पाचनशक्ति बिल्कुल जवाब दे चुकी है उनको इन उपचारोंसे अन्य उपचारोंकी अपेक्षा अधिक लाभ होगा, पर वे पूर्णतः नीरोग नहीं हो सकेंगे।

रोगका रूप गंभीर होनेकी हालतमें इन पंक्तियोंके आधारपर चिकित्साकार्यमें प्रवृत्त हो जाना बड़ी भूल होगी। अवस्था देखकर ही स्नान आदिके संबंधमें कुछ निश्चय किया जा सकता है इसलिए इस विषयके विशेषज्ञकी सलाहसे ही कुछ करना ठीक होता है।

# हम क्या खायें–पीयें ?

गलत खानपान और उचित रूपमें पाचन न होनेके कारण ही शरीरमें विजातीय द्रव्य बनता और रोगोंको जन्म देता है—इसलिए यदि हमें रोगोंसे छुटकारा पाना हो तो हम क्या खायें, क्या पीयें—इस सवालपर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

मनुष्यका प्रधान भोजन शुद्ध वायु है। यदि गंदी गैससे भरी हवामें मनुष्यको रख दिया जाय तो वह ज्यादा देर नहीं जी सकता; लेकिन गलत भोजनका प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता है और उसका बुरा नतीजा देरसे सामने आता है।

पाचनके संबंधमें लोग बड़े भ्रममें रहते हैं। देखा जाता है कि एक आदमी थोड़ा खाकर भी मोटा होता जाता है और दूसरा खूब खाकर भी दुबला बना रहता है। दोनों अपने पाचनको ठीक समझते है, पर वास्तवमें पहलेका भोजन शरीरमें कब्जकी तरह रुकता है और दूसरेका भोजन शरीरका पोषण किये बिना ही बाहर निकल जाता है। इससे यह समझमें आ सकता है कि यक्ष्माके रोगीको खूब पुष्टिकर भोजन भी क्यों कोई लाभ नहीं करता एवं नाड़ी-दौर्बल्यसे पीड़ित मोटे व्यक्तिको खानेकी इच्छा क्यों नहीं होती।

जो भोजन जितना जल्द पचता है वह उतना ही हमारी जीवशक्तिको बढ़ाता है। भोजन दुष्पाच्य होनेपर पाचन-प्रणालीको अधिक समयतक काम करना पड़ता है। सब जानते हैं कि मांस, मछली, अंडे, शराब, कोको, काफी, चाय आदि दुष्पाच्य खान-पानकी गिनतीमें हैं। कभी ऐसा भोजन करना ही पड़े और हम चाहते हों कि हमारी पाचन-शक्ति न बिगड़े तो हमें उसके पचनेतक कोई दूसरी चीज नहीं खानी चाहिए। दो भोजनोंके बीचके आवश्यक उपवासका महत्त्व हम नहीं समझते।

कुदरत अक्सर हमें उपवासकी प्रेरणा देती हैं, पर हम उसकी बात नहीं सुनते। प्रकृतिके भरोसे रहनेवाला हर प्राणी उपवास करता रहता है। भलीभांति खा लेनेके बाद सांप हफ्तों नहीं खाते। हिरन और बारहसिंघे भी कई बार विशेषकर जाड़ोंमें महीनों बहुत थोड़ा खाकर बसर करते हैं। मनुष्य जाड़ेमें ठंढके डरसे बहुत अधिक खाता है, लेकिन जाड़ेमें आवश्यक गर्मी न मिलनेके कारण भोजन कठिनाईसे पचता है, अतः गर्मीमें जितना भोजन आसानीसे पचता है, जाड़ेमें उतना कठिनाईसे हजम होता है। जाड़ेमें बनैले पशु घरेलू पशुओंकी अपेक्षा कम खुराक पाते हैं, तब भी वे तंदुरुस्त रहते हैं और पालतू पशु उन दिनों ठंढसे परेशान रहते हैं। इसका कारण उनका अधिक भोजन ही है।

बाहर शुद्ध वायुमें बैठकर खानेपर भोजन जल्द पचता है; क्योंकि उसमें शुद्ध हवा मिलती रहती है जो स्वयं मनुष्यकी बड़ी खुराक है। अधिक आसानीसे पचनेवाला भोजन अधिक पोषण देता है। साथ ही ऐसा भोजन कभी आवश्यकतासे अधिक खाया भी नहीं जा सकता। जो खाद्य अपनी स्वाभाविक दशामें स्वादिष्ट लगते और हमें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं वे सुपाच्य होते हैं और उन्हींसे हमें भरपूर जीवशक्ति मिलती है।

खाद्यपदार्थोंको पकाने, भूनने, तलने या उनमें नमक, मसाला या खट्टा-मिट्ठा डालकर उनकी शक्ल और स्वाद बदल देनेसे उनकी सुपाच्यता तो जाती ही रहती है, उनको जीव-शक्ति बढ़ानेकी ताकत भी नष्ट हो जाती है। पकाये खाद्योंमें वही आसानीसे पचते हैं जो सादगीसे पकाये जाते हैं और नमक-मसाले कम-से कम डाले जाते हैं।

ठोस खाद्य, जिन्हें चबाकर खाया जा सकता है, रसदार बनाकर खानेसे दुष्पाच्य हो जाते हैं। तरल चीजोंका हमेशा प्रयोग करते रहनेसे पेट बड़ा हो जाता है और पाचनमें गड़बड़ी पैदा होती है।

देखते ही घृणा उत्पन्न करनेवाले मांस आदि चाहे जितने स्वादिष्ट क्यों न लगें, स्वास्थ्यविनाशक होते हैं। बैल-गायको देखते ही क्या किसी-

की उन्हें खानेकी इच्छा होती है ? न बकरे या भेड़का कच्चा मांस कोई खा सकता है। हमारी घ्राणशक्ति, रसनेंद्रिय एवं नैसर्गिक बुद्धिको जो खाद्य अनुकूल नहीं पड़ते उन्हें कितना ही पकाया-बनाया जाय, वे कभी स्वास्थ्यप्रद नहीं हो सकते।

जो फल तरकारियां ज्यादा पकी नहीं होतीं या विकासकी पूर्णता-तक नहीं पहुंची होतीं वे आसानीसे पचती हैं और ज्यादा ताकत देती हैं, पर लोगोंकी यह गलत धारणा है कि कच्ची चीजें अस्वास्थ्यकर होती हैं; क्योंकि उनके उपयोगसे दस्त आने लगते हैं, आंव पड़ जाता है। हमेशा मांस खानेवाला पहली बार जब कच्चा सेब या कोई कच्चा फल खाता है तो कभी-कभी उसका पेट चलने लगता है। शीघ्र पचनेवाले फलके लिए पैदा हुए पाचक रसकी वजहसे धीरे-धीरे पचनेवाले मांस आदिमें सड़न पैदा हो जाती है, जिसकी वजहसे दस्त शुरू हो जाते हैं। इस उभारके फलस्वरूप शरीरसे बहुत-सा विजातीय द्रव्य शीघ्रतासे खारिज हो जाता है। मेरा अनुभव है कि इससे बहुत लाभ होता है।

पाठकोंमेंसे अनेकने देखा होगा कि अपने मालिककी कृपासे बहुत मोटे हुए पालतू कुत्ते कभी-कभी घास खाते हैं। मांसभक्षी कुत्तेको घास खानेकी जरूरत ? उनकी नैसर्गिक बुद्धि उसे बताती है कि गरिष्ठ भोजनके कारण थकी हुई पाचन-प्रणालीके लिए सुपाच्य घास बहुत लाभकर है।

पाचनकी विकृतिवाले रोगियोंके लिए कच्चे (गद्दर) फल अधिक लाभदायक होते हैं। पाचनप्रणाली सुधारनेपर ही पके फल खाने चाहिए। इसी तरह रोटीकी अपेक्षा कच्चा अन्न जल्द पचता है; क्योंकि उसे खूब चबाना पड़ता है। पकाकर बनायी हुई चीजोंमें चोकरदार आटेकी रोटी अधिक सुपाच्य है। चोकर निकाल दिये जानेके बाद गेहूंके भीतरका बचा हुआ भाग बड़ी कठिनाईसे पचता है। चोकरके अभावमें वह कब्ज भी करता है।

घोड़ोंको भूसीसहित जई आसानीसे पचती है, भूसी निकाल देनेपर

वह मुश्किलसे हजम होती है। जईके बदले गेहूं दीजिए तो उससे जईकी अपेक्षा भूसी कम होनेके कारण वह और भी कठिनाईसे पचेगा। घोड़ोंको बिना भूसीकी जई दी गयी तो वे मोटे तो अवश्य हुए, पर उन्हें कब्ज रहने लगा और वे निकम्मे हो गये। इससे यह सिद्ध होता है कि अच्छे पाचनके लिए अन्नके साथ उसकी भूसीका रहना आवश्यक है। अधिक भूसीसे पाचनमें आसानी होती है। कुदरत जिस रूपमें हमें जो खाद्य देती है उसी दशामें यह ठीक पाचनके योग्य होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें दाल बादी करती है। तरल रूपमें खाने से ही दाल बादी करती है। अगर छिलकेसहित दाल केवल इतने पानीमें उबाली जाय कि वह सिर्फ फूल जाय और पानी न बचे तो उसे खानेके समय खूब चबाना पड़ेगा और साधारणतः जितनी दाल लोग खाते हैं मुश्किलसे उसकी एक तिहाई खा सकेंगे। यह मात्रा और इस प्रकार बनायी हुई दाल बादी नहीं करेगी और अधिक शक्ति भी देगी।

पेटमें पहुंच जानेपर भोजनमें खमीर उठता है, फिर वह पचता है; पर खाद्योंको अप्राकृतिक रूपसे पकाने या उनमें चीनी, नमक मिला देनेसे खमीर उठनेमें देर लगती है और उन्हें देरतक आंतोंमें पड़े रहना पड़ता है जिससे उनमें जोरोंसे सड़न पैदा होती है। इससे आंतोंकी गर्मी बढ़ जाती है, मल सूख जाता है और उसका रंग काला-सा हो जाता है।

भोजनका पाचन मुंहमें ही आरंभ हो जाता है। आमाशयमें पहुंचनेपर उसमें आमाशयिक रस मिलते हैं और उसमें एक प्रकारका खमीर पैदा होता है। छोटी आंतमें पहुंचनेपर उसमें क्लोम एवं दूसरे पाचक रस मिलकर खमीरको और बढ़ा देते हैं। पचनेके बाद बचे अंशको आंत, गुर्दे और रोमकूप शरीरसे बाहर कर देते हैं।

पशु जो कुछ खाता है वह शीघ्र पच जाता है और उसके मलमें भोजनका कोई अनपचा अंश नहीं मिलता; हड्डी खानेवाले पशुओंके मलमें हड्डीका कोई अंश नहीं दिखायी देता; पर मनुष्यका भोजन कई बार

उसकी आंतोंमें हफ्ते-हफ्ते भर पड़ा सड़ता है। परिणामस्वरूप अपान-वायु एवं अधोवायु खुलने लगती हैं और पसीनेमें दुर्गंध आने लगती है।

यदि मलका रंग हलका भूरा हो, वह मुलायम, पर बंधा हो एवं उसपर मामूली चिकनाई हो तो समझना चाहिए कि पाचन बिलकुल ठीक है। मलकी शक्ल गोल होनी चाहिए और उसके निकलनेके बाद आबदस्त लेनेकी जरूरत नहीं महसूस होनी चाहिए। पशुका मल ऐसा ही होता है और ऐसा ही मल स्वस्थ मनुष्यका होना चाहिए। मलमें किसी प्रकारकी दुर्गंध नहीं होनी चाहिए। यदि दुर्गंध हो तो समझना चाहिए कि पाचन स्वाभाविक नहीं है। जिनके मलमें दुर्गंध होती है उन्हें कब्ज रहने लगता है, मल आंतोंमें चिपक जाता है और आगे नहीं बढ़ पाता। उसकी शक्ल भी बदल जाती है, वायुका प्रकोप बढ़ जाता है और यह वायु सारे शरीरमें फैलने लगती है। त्वचा तथा हाथ पैरोंपर भी उसका असर हो जाता है। त्वचाका कार्य शिथिल हुआ तो वह त्वचाके निकट अधिकाधिक इकट्ठी हो जाती है और तब त्वचाका काम और भी बंद हो जाता है और उसकी गर्मी कम हो जाती है। इस दशामें त्वचाके निकटकी रक्तवाहिनी नलिकाएं विजातीय द्रव्यों-से रुंध जाती हैं, वे रक्तको त्वचाके निकट नहीं पहुंचा पातीं जिससे त्वचाका रङ्ग फीका, पीला मुर्झाया, मुर्देका-सा हो जाता है। त्वचाके पास ठंढ और भीतर मलकी गर्मी होती है अतः त्वचाके निकट विजातीय द्रव्य जमकर कड़ा हो जाता है जिससे शरीरकी स्वाभाविक आकृतिमें अंतर पड़ जाता है। यही शरीर विजातीय द्रव्योंसे लदा शरीर कहलाता है। उस मलके सिरकी ओर बढ़नेपर सिरदर्द तथा नाक, कान, आंख और मस्तिष्कके अनेक रोग पैदा होते हैं। जो लोग बाहरी उपचारकी मददसे स्वस्थ होनेकी आशा करते हैं उन्हें नैराश्यके सिवा और कुछ हाथ नहीं लग सकता।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि मेरा पाचन बहुत बढ़िया है। मैं सेरों यह-वह वस्तु खा जाता हूँ, शराब कई गिलास चढ़ा जाता हूँ, पर

मुझे कभी अपचकी शिकायत नहीं हुई। इसका मतलब यह है कि ऐसे लोगोंमें कुदरतकी आवाज बेजान हो गयी है। बढ़िया पाचनवालोंको जरा-सा ज्यादा खा लेनेपर डकारें आने लगती हैं, गला जलने लगता है, सुस्ती छा जाती है, पर पुराने अपचवाले खाये ही जाते हैं। उनके शरीरसे भोजन अनपचा ही निकल जाता है, उन्हें भोजन से कोई लाभ नहीं पहुंचता।

भिन्न-भिन्न खाद्योंसे हमारी पाचन एवं अभिशोषणकी शक्तिके अनुसार ही शक्ति मिलती है। मांस, शराब, अंडे, मिठाई और चाटसे चोकरदार आटेकी रोटी, ताजे फल, कच्ची तरकारियों एवं बिना घी, नमक, मसालोंकी उबली तरकारियोंमें पाचनके योग्य अंश निश्चित रूपसे अधिक रहता है। वैज्ञानिक दृष्टिसे मांस, शराब आदिमें भी वे तत्त्व मिलते हैं जिनसे मनुष्यका शरीर बना है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि उनके तत्त्व हमारे शरीरके ग्रहण करने योग्य हैं। यों तो कई प्रकारके विषयमें भी हमारे शरीरमें मौजूद कुछ-न-कुछ तत्त्व पाये जाते हैं; पर वे विष हमारे खाने योग्य तो नहीं होते। इसी तरह उपर्युक्त पदार्थ भी एक प्रकारसे विष ही समझे जाने चाहिए।

हमारा शरीर अन्न एवं फल-तरकारियोंसे सारी आवश्यक शक्ति प्राप्त कर सकता है। गेहूँकी रोटीसे उसे वे चीजें मिल सकती हैं जिन्हें विज्ञान शरीरके लिए आवश्यक मानता है, पर डाक्टर तो कुछ और ही खानेको बतलाते हैं और लोग उन्हींका अनुसरण करते हैं। परिणाम-स्वरूप रोगों और रोगियोंकी संख्या बढ़ती जाती है।

कुदरतके नियम तोड़नेकी सजा कमजोरी, रोग और कष्टके रूपमें मिले बिना नहीं रहती। यह पत्र पढ़िए और प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक खाद्यका असर समझिए। 'होनूलूलूके लोग कुछ जड़, मौसमी फल और केला खाते थे और पेयके रूपमें केवल जल पाते रहे। फलस्वरूप उनका बदन कद्दावर होता था और वह स्वास्थ्य एवं शक्तिसे पूर्ण रहता था। अंग्रेजोंने आकर यहांके निवासियोंको मांस खाना और शराब पीना

सिखला दिया। अब हालत यह है कि यहां रोगोंका राज्य है। प्रायः लोगोंको चर्म-रोग होते रहते हैं। विशेषतः सूजाक, गर्मी और कोढ़के रोगियोंकी संख्या बढ़ रही है।' होनूलूलू उष्ण कटिबंधमें होनेके कारण वहांके लोगोंपर अप्राकृतिक खाद्यका असर शीघ्र प्रकट हो गया। ठंढी जगहमें वह असर धीरे-धीरे दिखायी देता है।

शरीरके लिए विजातीय होते हैं और शरीरमें पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। तब प्रश्न यह होता है कि हमारा प्राकृतिक आहार क्या है ?

जीभका तो भरोसा ही नहीं किया जा सकता, इसलिए हमें परीक्षणसे प्राप्त निष्कर्षके ही आधारपर इसका निश्चय करना पड़ेगा। यह प्रश्न वैज्ञानिक है इसलिए इसे हल भी वैज्ञानिक विधिसे ही करना पड़ेगा—विशेषसे सामान्यकी ओर जाना पड़ेगा। परीक्षणका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि पूरे क्षेत्रका परिचय प्राप्त करना किसी व्यक्तिके लिए संभव नहीं है, इसलिए हम सारे जीवधारियोंपर विचार न कर केवल उन्हींके संबंधमें विचार करेंगे जो इस विषयके लिहाजसे मनुष्य के निकट पड़ते हैं।

जीवधारियोंको अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिए पोषण अनिवार्य रूपमें आवश्यक होता है। यह पोषण भी प्रत्येक जातिका भिन्न-भिन्न हुआ करता है। समुद्रतटकी नमकवाली भूमिपर उगनेवाला पौधा देशके भीतरी भागमें नहीं पनप सकता और रेतीली जमीनका पौधा उद्यानमें लगानेपर मुरझा जाता है। जीवधारियोंमें यही बात इतने स्पष्ट रूपमें देखी जाती है कि उनके आहारके आधारपर उनका वर्गीकरण सरलतासे किया जा सकता है।

साधारणतः लोग मांसाहारी और शाकाहारी—इन्हीं दो भेदोंसे परिचित हैं, पर यह विभाग ऊपरी है। विषयकी छानबीन करनेपर पता चलेगा कि मांसाहारी, कीटाहारियोंसे भिन्न हैं। शाकाहारियोंके भी दो उपभेद होते हैं—तृणाहारी और फलाहारी। कुछ जीवोंका आहार मांस और शाकादि—दोनों प्रकारके पदार्थ हैं। इसके साथ ही हमें उन अंगोंपर भी ध्यान देना चाहिए जो पोषण-ग्रहणके कार्यमें सहायक होते हैं। आहारका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ये हमें ऐसा अच्छा सूत्र प्रदान करते हैं कि हम अस्थिपंजर देखकर आसानीसे कह सकते हैं कि यह प्राणी किस श्रेणीका है। हमें दांतों, पाचन प्रणाली और आहारको ओर प्रवृत्त करनेवाली ज्ञानेंद्रियोंपर भी विचार करना पड़ेगा और

यह भी देखना होगा कि कोई विशेष जीव अपने बच्चेका पालन कैसे करता है। इस प्रकार परीक्षणके लिए हमारे सामने चार विषय प्रस्तुत होते हैं।

दांत तीन श्रेणियोंमें विभक्त किये जाते हैं—काटनेवाले, पकड़ने या फाड़नेवाले और चबाने या पीसनेवाले। मांसाहारी जीवोंके काटने-वाले दांतों (आगेके दांत) का अच्छा विकास नहीं होता; क्योंकि वे उनका विशेष उपयोग नहीं कर पाते। पकड़नेवाले दांत काफी लंबे होते हैं, अन्य दांतोंसे वे बहुत आगे निकले होते हैं, दूसरे जबड़ेमें उनके ठीक बैठ जानेके लिए खाली जगह रहती है और वे नुकीले, चिकने और कुछ टेढ़े होते हैं। उनसे चबानेका काम नहीं लिया जा सकता; पर शिकार पक-ड़नेके लिए वे बड़े उपयोगी होते हैं। पीछेके दांत मांस चबानेके काममें आते हैं। इनकी सतह छोटी-छोटी नोकोंसे भरी होती है जो ऊपर-नीचे एक दूसरेसे न मिलकर अगल-बगल ठीक-ठीक बैठ जाती है जिससे चबाते वक्त मांसके रेशे अलग-अलग हो जाते हैं। मांसाहारी जीवोंका जबड़ा अगल-बगल नहीं हटता जिससे वे अपना आहार पीस नहीं सकते, केवल चबा सकते हैं। दांत भी पीसने योग्य नहीं बने होते। कुत्ता रोटीके टुकड़ोंको चबाकर नहीं खा सकता, उन्हें यों ही निगल जाता है।

तृणाहारी जीवोंके काटनेवाले दांतोंका विकास इस रूपमें हुआ होता है कि वे घास-पात मजेमें काट सकें। इनके पकड़नेवाले दांत अधिक नहीं बढ़े होते और पीसनेवाले दांत तृण और घास पीसनेके लिए काफी चौड़े होते हैं।

## मनुष्य--फलाहारी प्राणी

फलाहारी जीवोंकी जातियाँ अधिक नहीं हैं। बनमानुस ही हमारे लिए एक महत्त्वपूर्ण जाति है। इन जीवोंके दांतोंका विकास एक-सा होता है और सबकी ऊँचाई भी लगभग समान होती है, सिर्फ कुक्कुरदत औरोंसे जरा आगे निकले होते हैं; पर वे मांसाहारी जीवोंके दांतकी

तरह काममें नहीं लाये जा सकते। वे शुंडाकार होते हैं, पर नोक भोथरी होती है और चिकने भी नहीं होते जिससे शिकार पकड़नेके काम नहीं आ सकते। वे बड़े मजबूत होते हैं और बनमानुस तो उनसे आश्चर्यजनक काम कर डालते हैं। इन प्राणियोंके पीसनेवाले दांतों-पर रुचक (इनामेल) का आवरण होता है और नीचेका जबड़ा चारों ओर घूम सकनेके कारण वे चक्कीकी भाँति काम कर सकते हैं। पीसनेवाले दांतोंमें किसीके नोकदार न होनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें मांस चबानेके लिए एक भी दांत नहीं है। यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है; क्योंकि उभयाहारी (शाक-मांसाहारी) प्राणीके (केवल शूकर ऐसा प्राणी है) नुकीले और चौड़े अर्थात् चबाने और पीसने वाले दोनों प्रकारके दांत होते हैं। शूकरके कुक्कुरदंत होते हैं और आगे-के काटनेवाले दांत फलाहारी प्राणियोंके-से होते हैं।

अब देखना यह है कि मनुष्यके दांत इन श्रेणियोंमेंसे किसके सदृश हैं। यह आसानीसे देखा जा सकता है कि वे फलाहारी जीवोंके-से होते हैं; कुक्कुरदंत तो उतने बड़े भी नहीं होते, जितने फलाहारियोंके होते हैं, वे आगेकी ओर विशेष रूपसे नहीं बढ़े भी होते। कहा जाता है कि बड़े न होते हुए भी कुक्कुरदंत तो हैं ही, इसलिए मांस भी मनुष्यका आहार हो सकता है, पर यह दलील तो तब मानी जा सकती जब मनुष्यके दांत भी वही कार्य कर सकते जो मांसाहारी जीवोंके करते हैं और साथ ही शूकरकी तरह पीछेकी ओर मांस चबानेवाले दांत होते। प्रायः यह दलील भी पेश की जाती है कि दांतोंके विचारसे मनुष्य न तो मांसहारी है और न तृणाहारी, वह दोनोंके बीचमें है इसलिए दोनों ही है। यह स्थापना भी तर्कके आधारपर कभी टिक नहीं सकती।

अब परीक्षणके दूसरे विषय पाचन-प्रणालीकी ओर ध्यान दें। आखेटपर जीवनयापन करनेवाले जानवरोंका आमाशय छोटा, करीब-करीब गोल होता है और आंतें शरीर—मुँहसे पूँछकी-जड़तक—की लंबाई से तिगुनीसे पांचगुनीतक होती हैं। तृणाहारी विशेषकर पागुर करने-

वाले जानवरोंका आमाशय बड़ा और कई भागोंमें बंटा होता है। आंतों-की लंबाई शरीरकी लंबाईसे बीससे अट्ठाईस गुनीतक होती है। फला-हारी जीवका आमाशय मांसाहारीके आमाशयसे कुछ चौड़ा होता है और उसका कुछ हिस्सा पक्वाशयमें मिला रहता है जो दूसरा आमाशय कहा जा सकता है। आंतोंकी लंबाई शरीरसे दससे बारह गुनीतक होती है। शरीररचना-संबंधी पुस्तकोंमें प्रायः यह उल्लेख मिलता है कि मनुष्यकी आंतें शरीरसे तीनसे पांच गुनींतक लंबी होती हैं, इसलिए वे मांसाहारीके अधिक उपयुक्त हैं। यह तो प्रकृतिपर एक गहरा आरोप हुआ। उसने आंतें तो मांसाहारीकी बना दीं, पर दांत वैसे नहीं बनाये, पर बात ऐसी नहीं है। लंबाई मस्तकसे तलवेतककी ले ली गयी है, लेनी चाहिए थी मुंहसे रीढ़के छोरतककी। मनुष्यकी आंतें अट्ठारसे अट्ठाईस फुटतक लंबी होती हैं और शरीरकी लंबाई—सिरसे रीढ़के छोरतक—डेढ़-से-ढाई फुटतक। शरीरकी लंबाईसे आंतोंकी लंबाईमें भाग देनेपर भागफल वही दस या ग्यारह आयेगा जो फलाहारी जीवोंके संबंधमें ऊपर दिया गया है। इस प्रकार भी हम इसी निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि मनुष्य फलाहारी प्राणी है। अब परीक्षणके तीसरे विषय आहारका ज्ञान कराने और उसकी ओर प्रवृत्त करनेवाली इंद्रियोंकी ओर ध्यान दीजिए। घ्राण और आस्वादके ही द्वारा जीवधारी आहारकी ओर आकृष्ट होकर खानेमें प्रवृत्त होते हैं। शिकारकी गंध मिलनेपर आखेट करनेवाले जीवकी आंखें चमकने लगती हैं, उत्साहके साथ वह उसके मार्गका अनुसरण करता है, उसपर उछलकर हमला करता है और उसका गर्म खून बड़े चावसे पीता है, इन सभी क्रियाओंमें उसे बड़ा आनंद मिलता है। इसके विप-रीत, तृणाहारी पशु दूसरेके पाससे चुपचाप निकल जायगा। विशेष अव-स्थामें वह हमला भी कर सकता है, पर उसकी घ्राणेंद्रिय उसे धोखा देकर मांस नहीं खिला सकती। अगर उसके प्राकृतिक खाद्यपर खून छिड़क दिया जाय तो वह उसका स्पर्शतक नहीं करेगा। उसकी दृष्टि और घ्राणेंद्रिय उसको घास-पातकी ही ओर ले जाती है और उसीसे

उसके स्वादकी संतुष्टि भी होती है । यही बात फलाहारी जीवके संबंधमें भी देख पड़ती है—उसकी इंद्रियाँ वृक्षोंमें लगे और खेतमें उत्पन्न फलोंकी ही ओर उसे ले जाती हैं ।

मनुष्यकी दृष्टि और घ्राणेंद्रिय उसे किसी बैलको मारनेके लिए प्रेरित नहीं करती । जिस बच्चेने पशुवधके विषयमें कुछ नहीं सुना है वह, अगर मांस खाता हो तो भी, किसी मोटे-ताजे बकरे या बैलको देख कर उसका मांस खानेके लिए कभी लालायित नहीं होगा । पकाकर मसालोंके जरिये जायकेदार बनाये बिना हम उसे खानेका खयाल भी कर ही नहीं सकते । प्रकृतितः ऐसा विचार हमारे मनमें आयेगा ही नहीं ।

वधका विचार ही घृणोत्पादक है । कच्चा मांस न तो आंखें देखना पसंद करती हैं और न नाक सूंघना । वधस्थान नगरसे अधिकाधिक दूर क्यों हटाये जा रहे हैं ? मांस बिना ढके ले जानेका क्यों निषेध है ? आंखों और नाकको इतना बुरा मालूम होनेवाला पदार्थ क्या प्राकृतिक खाद्य हो सकता है ? अगर ये इंद्रियाँ बिलकुल शून्य न हो गयी हों तो आकर्षण उत्पन्न करनेके लिए तरह-तरहके मसाले मिलाये जाते हैं । इसके विपरीत फलोंकी सुगंध कितनी आकर्षक और आनंददायक होती है ! देखनेपर मुंहसे सचमुच लार टपक जाती है । अन्नोंमें भी गंध होती है हालांकि पकनेके कारण वह बहुत कुछ कम पड़ गयी होती है । कच्चा रहनेपर भी उसका स्वाद आनंद दायक होता है । अन्नकी फसल काटने और पकानेमें मनमें किसी तरहका विकर्षण नहीं होता और ग्रामीणोंको जो सुखी और संतुष्ट कहा जाता है वह भी अकारण नहीं है । इससे भी हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि मनुष्य फलाहारी प्राणी है ।

परीक्षणका चौथा विषय है वंश-रक्षण । जन्म लेनेपर सभी जीवोंको ऐसा आहार मिलना चाहिए जिससे वे जल्द बढ़ सकें । नवजात शिशुके लिए माताका दूध सर्वोत्तम होता है, पर देखा जाता है कि बहुत-सी माताएँ इस पवित्र कार्यको करनेमें समर्थ नहीं होतीं, क्योंकि उनका अंग यह पोषण

प्रस्तुत करने योग्य होता ही नहीं। कृत्रिम खाद्य किसी बातमें प्राकृतिक खाद्यके समान न होनेके कारण बच्चे अपने जीवनके आरंभमें ही ज्ञानें-द्रिय-संबंधी संस्कारसे वंचित रह जाते हैं। तथाकथित उच्च घरानेकी स्त्रियोंमें, जिनका मुख्य आहार मांस है, यही बात देखी जाती है। वे दूध पिलानेके लिए देहातसे धाय मंगाती हैं जहां बहुत कम मांस खाया जाता है; पर देहातसे आनेवाली स्त्री भी उस परिवारमें अधिक मांस खानेके कारण बच्चेको दूध पिलाने योग्य नहीं रह जाती। समुद्रयात्रामें मांस अधिक खाया जाता है, पर दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको अधिक मांस न देकर जईकी लपसी दी जाती है जिसमें उसका दूध सूखने न पाये। इससे भी हम इसी परिणामपर पहुंचते हैं कि मनुष्य फलाहारी जीव है।

अगर हमारी यह स्थापना सही है तो यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य अपने प्राकृतिक आहारसे बहुत दूर भटक गया है। क्या दूसरे जीव भी अपना प्राकृतिक आहार छोड़ सकते हैं? अगर छोड़ें तो इसका परिणाम क्या होगा?

हम प्रायः देखते हैं कि बिल्लियों और कुत्तोंको शाकाहारीको आदत डाली जाती है? क्या शाकाहारीके मांस खानेकी बात सुनी जाती है? एक जगह मैंने एक विचित्र बात देखी। एक व्यक्तिने एक हिरन पाला था, जिसकी उस घरके कुत्तेसे दोस्ती हो गयी। वह कुत्तेको दिया जाने वाला मांसका शोरवा चाटने लग गया। पहले तो वह उससे भड़कता था, पर पीछे उसे उसमें रस मिलने लगा और फिर तो वह अपना प्राकृ-तिक आहार छोड़कर मांसतक खाने लगा, पर इस अप्राकृतिक आहार-का परिणाम शीघ्र ही प्रकट होने लगा—वह प्रायः बीमार पड़ने लगा और एक सालका होनेके पहले ही चल बसा।

पिंजड़ेमें रखे हुए बनमानुसोंको भी मांस खानेकी आदत डाली जा सकती है, पर इससे वे एक-दो सालके अंदर ही क्षयग्रस्त होकर मर जाते हैं। कुछ लोग इसका कारण जलवायुका असर मानते हैं, पर चूंकि गर्म

देशोंके और निवासी यहां मजेमें रहते हैं, इससे मानना पड़ता है कि इसका कारण जलवायु न होकर अप्राकृतिक भोजन ही है। हालके प्रयोगोंमें भी यही बात सिद्ध हुई है।

इन बातोंसे यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि जानवर अपने प्राकृतिक आहारका परित्याग कर सकते हैं। फिर अधिकांश मनुष्य ऐसा करें तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। तरह-तरहके रोगोंके रूपमें इसका परिणाम भी स्पष्टतः देख पड़ता है।

ऐसा शायद ही कोई होगा जिसे चिकित्सककी आवश्यकता न पड़ी हो। वार्द्धक्यसे भी बिरला ही कोई मरता है। ऐसे भी कम ही लोग होंगे जिनके शरीरमें विजातीय द्रव्य एकत्र न हो। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे ग्राममें रहनेवाले, जो प्रायः शाकाहारी होते हैं, प्राकृतिक नियमोंका भली-भांति पालन न करते हुए भी शहरवालोंसे कहीं अच्छे होते हैं। स्वच्छ हवाका भी कुछ प्रभाव होता है, पर मुख्यता भोजनकी ही होती है। यह सत्य है कि स्वास्थ्य खराब होनेके और भी कारण होते हैं, पर पशु-जगतसे तुलना करनेपर खाद्य पदार्थ ही मूल कारण ठहरता है। अस्तबलमें रखे जानेवाले पशु बड़ी अस्वास्थ्यकर स्थितिमें रहते हैं। वे बराबर मलसे निकली गैससे भरी हवामें सांस लेते हैं और शारीरिक परिश्रम भी नहीं करते। ऐसी हालतमें यह मानना पड़ेगा कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह सकता, और वे वस्तुतः पूर्णरूपसे स्वस्थ होते भी नहीं, फिर भी वे मनुष्योंकी अपेक्षा, जो अपनी देख-भाल कर सकने की स्थितिमें होते हैं, कम ही रोगग्रस्त हुआ करते हैं। ऐसी हालतमें खराबीका कारण आहारके अतिरिक्त और क्या माना जाय ?

मनुष्यके संबंधमें जो बातें कही जाती हैं—एक तो यह कि उच्चतर संघटनके परिणामस्वरूप मनुष्य निम्नस्तरके जीवोंकी स्थितिका भागी नहीं है और दूसरी यह कि अज्ञातकालसे मांस खाते आनेके कारण मनुष्यका शरीर, डार्विनके सिद्धांतानुसार, मांस खाने योग्य अवस्थामें परिणत हो गया है। कुछ लोगोंका खयाल है कि प्रौढ़ लोग बिना खतरेके अपने

वर्तमान भोजनका परित्याग नहीं कर सकते। वास्तविक परिणामका निश्चय प्रयोगसे ही किया जा सकता है। इधर कई परिवारोंमें बच्चे निरामिष आहारपर रखे गये हैं और उनकी जो प्रगति देखी गयी है वह निरामिष आहारके ही पक्षका समर्थन करती है। इन बच्चोंको शारीरिक और मानसिक—स्वभाव, विचार, प्रवृत्ति आदिकी—उन्नति सर्वथा संतोष-जनक रूपमें हुई है।

इस स्थलपर नैतिकताके संबंधमें भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। युवकोंकी अनैतिकता आजकल चर्चाका मुख्य विषय बन गयी है। सभी धर्माचार्य, दार्शनिक और आचारशास्त्री इंद्रियासक्तिको ही नैतिकताका प्रधान शत्रु मानते हैं, इसलिए इंद्रियदमनके तरह-तरहके कठोर उपाय—दीर्घ उपवास, कठोर शारीरिक नियम आदि—काममें लाये जाते हैं; पर जिस प्रकार कुशल सेनानायक शत्रुसेनापर उसके व्यूहबद्ध होनेके पूर्व ही आक्रमण कर विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार नैतिकताके इस शत्रु—इंद्रियासक्ति—को सबल होनेके पहले ही पराभूत किया जा सकता है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए सबसे अच्छा साधन यह है कि शैशवावस्थासे ही अनुत्तेजक, प्राकृतिक आहार दिया जाय। प्रयोगसे यह बात सिद्ध हो चुकी है, इसके इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण होनेमें संदेहका कोई कारण नहीं।

विषयवासनासे मुक्ति और इस मुक्तिसे मिलनेवाली शक्ति हृदयकी शिक्षाका सर्वोत्तम आधार है। प्रत्येक मनोवैज्ञानिकको यह बात ज्ञात है कि मानसिक कार्यों और प्रौढ़ विवेकके लिए संतोषकी वृत्ति सर्वाधिक अनुकूल होती है और यह वृत्ति निरामिष आहार आहारसे ही विशेष रूपसे प्राप्त हो सकती है। जो लोग प्राकृतिक नियमोंके अनुसार जीवन व्यतीत कर रहे हैं उनके जीवनसे इस बातकी सत्यता प्रमाणित की जा सकती है। यह बात भी विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि बहुत-से व्यक्तियोंको भीषण रोगसे बाध्य होकर निरामिषभोजी बनना पड़ा है। औषधका प्रयोग किये बिना नीरोग करनेवाली इस पद्धतिमें अनुत्तेजक आहार ही

प्राकृतिक आहार माना गया है और पूर्ण आरोग्यके लिए वही अनिवार्य रूपमें आवश्यक है। इस प्रकारका आहार रखनेपर आरोग्य-लाभमें समय भी अपेक्षाकृत कम ही लगता है। जो मांस-मदिराका त्याग करनेका साहस नहीं करते ? उनके नीरोग होनेमें समय अधिक लगता है; क्योंकि इस प्रकारके आहारद्वारा वे नया विजातीय द्रव्य भीतर पहुंचाते जाते हैं जिसे फिर बाहर निकालना पड़ता है। इस तरह रोग उत्पन्न होनेवाली स्थिति बराबर बनी रहती है। आजकी बहुत-सी बीमारियोंका मुख्य कारण उत्तेजक और मांसयुक्त आहार ही है।

## हमारा भोजन और पेय

तब आप ब्यौरेवार जानना चाहेंगे कि हमें क्या खाना और पीना चाहिए। पेयके संबंधमें निश्चय करने लिए हमें पुनः परीक्षणके क्षेत्रमें उतरना पड़ेगा। मनुष्यके सिवा ऐसा कोई जीव नहीं है जो प्यास बुझाने के लिए पानीके अलावा और कोई तरल पदार्थ पसंद करता हो। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जानवर हमेशा बहता हुआ जल ढूंढ़ते हैं और धूप खाये हुए तथा कंकरीली जमीनपर बहनेवाले जलको चट्टानसे निकले हुए ताजे जलकी अपेक्षा अधिक पसंद करते हैं। जो जीवधारी रसदार फल खाते हैं उन्हें पानीकी जरूरत कम ही पड़ती है। अगर मनुष्य भी फल-तरकारियां अधिक खाय तो उसे प्यास बहुत कम लगेगी। फिर भी उसे पीनेकी जरूरत पड़े ही तो प्राकृतिक पेय-जल ही है। लोग प्रायः जलके साथ फलका रस और चीनी मिलाकर आवश्यकतासे अधिक पी जाया करते हैं। यह लाभदायक न होकर हानिकारक ही हुआ करता है। रोगसे मुक्ति पाने या स्वास्थ्य-रक्षणके विचारसे हमें प्राकृतिक पेय—जल—से ही हमेशा अपनी प्यास बुझानी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि हम खाये क्या ? प्रकृति फल खानेका आदेश देती है इसलिए वही हमारा सर्वोत्तम आहार है। वे सभी फल, अन्न,

कंद-मूल जो हमारी दृष्टि, घ्राण और स्वादके लिए आकर्षक हैं, हमारा खाद्य हो सकते हैं। ये सभी चीजें प्रायः सभी प्रकारके जलवायुमें प्रचुरतासे मिल जाती हैं। अत्यधिक ठंडे प्रदेशमें ये प्राप्य नहीं हैं, इसलिए वह मानवनिवासके उपयुक्त नहीं समझा जाता। जो वहां रहते हैं उनका शारीरिक और मानसिक विकास समुचित रूपमें नहीं हो पाता।

प्रकृतिने जो चीजें दी हैं उन्हें उनके प्राकृतिक रूपमें ही ग्रहण करना चाहिए। स्वास्थ्यकी गिरी अवस्था, विशेषकर दांतोंकी खराबीके कारण यह उतना व्यावहारिक नहीं हो सकता, पर मिर्च-मसाले, चीनी आदिसे तो परहेज करना ही चाहिए।

आजकल भोजन बहुत गलत तरीकेसे तैयार किया जाता है। उबालनेके लिए जो पानी काममें लाया जाता है वह फेंक दिया जाता है और पोषकतत्त्वोंसे रहित तरकारियां आदि थालमें परसी जाती हैं। तरकारियोंमें बहुत कम पानी डालना चाहिए और उनका पानी कभी फेंकना नहीं चाहिए और चीजोंके संबंधमें भी इस बातका खयाल रखना चाहिए कि पोषक तत्त्व नष्ट न हों और और जायकेदार बनानेके लिए वे अप्राकृतिक और हानिकारक न बना दी जायें।

रोगियोंका आहार स्वस्थ लोगोंके आहारसे बिलकुल भिन्न होता है। जिस प्रकार जख्मी हाथसे काम नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कमजोर आमाशय पाचन-कार्य नहीं कर सकता। वह स्वयं ही यह बतला देता है कि वह क्या पचा सकता है। खट्टी डकार, आमाशयका दर्द, वायु या और प्रकारकी गड़बड़ी इस बातका सूचक है कि या तो आहार उपयुक्त नहीं है या उसकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक रही है। अगर ध्यान दें तो रोगी स्वयं इस बातका निश्चय कर सकता है कि उसे क्या और कितना अनुकूल होगा। अगर खाना खूब चबा-चबाकर खाया जाय तो चोकरदार आटेकी रोटी बहुत अच्छी होती है। लारका मिश्रण अच्छी तरह हुए बिना वह गलेके नीचे उतर भी नहीं सकता, जिससे रोगी

उसे अधिक मात्रामें खा भी नहीं सकता। खाद्य पदार्थका चुनाव और संयम रोगीके लिए बड़े महत्त्वकी बातें हैं। संयमसे काम न लेनेपर अच्छे-से-अच्छा पथ्य भी हानिकारक हो जायगा।

जईकी पतली लपसी रोगियोंके लिए बहुत उपयुक्त होती है। इसमें जरा-सा नमक या थोड़ा कच्चा दूध मिला दिया जा सकता है। दूध हमेशा कच्चा और ठंडा पीना चाहिए। पहले स्वाद और गंध देखकर निश्चय कर लेना चाहिए कि दूध पीने योग्य है या नहीं। ऐसा मत समझिए कि वह उबालनेसे ठीक हो जायेगा। उबाला हुआ दूध पचनेमें कठिन होता है; क्योंकि उसका खमीर देरसे बनता हैं और अस्वास्थ्यकर तत्त्व उबालनेसे दूर भी नहीं होते, ज्यों-के-त्यों बने रह जाते हैं; पोषक-तत्त्व भी उसमें कम ही रहता है और वह शरीरका बल न बढ़ाकर उसे केवल तगड़ा बनाता है। भोजनके समय ताजे फल खाये जा सकते हैं। हरी तरकारीके साथ चावल या बार्ली भी दी जा सकती है। स्वस्थ व्यक्तियोंकी तो कोई बात ही नहीं, उनके लिए अनेकानेक खाद्य पदार्थ प्रचुर परिमाणमें प्राप्य हैं।

कहीं गलतफहमी न हो इसलिए हम यहां पुनः कह देना चाहते हैं कि जो लोग किसी बड़े रोगसे ग्रस्त हैं, विशेषकर जिनका पाचन बहुत खराब हो गया है, उन्हें बहुत सादा और खूब चबाया जानेवाला पदार्थ खाना चाहिए। ऐसे लोगोंके लिए सबसे अच्छी चीज चोकरदार आटेकी रोटी और फल है। उन्हें तो पूर्ण सुधार न हो जानेतक स्वादकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए।

कुछ लोग पूछ बैठते हैं—क्या यह स्वादिष्ट होता है? पर मैं पूछता हूँ खानेमें स्वाद या आनंद आता कहांसे है? रसनेंद्रियके उत्ते-जनसे ही स्वादकी अनुभूति होती है। इसमें कभी-कभी वृद्धिकर अधिक आनंद प्राप्त किया जा सकता है, पर इसकी बार-बार आवृत्ति होनेसे हम उसके आदी हो जाते हैं और तब उससे अधिक आनंद नहीं मिलता। इस प्रकार अधिक आनंद देनेवाली चीजें भी बादमें उसी

श्रेणीमें आ जाती हैं जिस श्रेणीमें पहले सादी चीजें हुआ करती हैं। वस्तुतः स्वादकी वृद्धिकी दृष्टिसे खाद्य पदार्थको उत्तेजक बनानेसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

इस स्थलपर मैं पुनः स्मरण दिला देना उचित समझता हूं कि अप्राकृतिक आहारके ही कारण शरीरमें विजातीय द्रव्य एकत्र हुआ करता है। अगर पाचन खराब न हो और संयमसे काम लिया जाय तो प्राकृतिक आहारसे शरीरमें विजातीय द्रव्य रह ही नहीं सकता। यदि स्वास्थ्य-संबंधी और बातोंपर भी हम ध्यान देते रहें तो प्राकृतिक आहारसे हम निश्चय ही बराबर स्वस्थ बने रहेंगे और अगर सभी लोग प्राकृतिक आहारका सिद्धांत बरतने लगें तो इस धरापर ही स्वर्ग उतर आये।

भाग ३

# नाड़ियों तथा मस्तिष्कके रोग

रोगोंके मूलतः एक होनेका सिद्धांत मानसिक तथा नाड़ी-रोगोंपर भी लागू होता है। वर्तमान युग ठीक ही नाड़ी-रोगोंका युग कहा जाता है; क्योंकि ये रोग सर्वत्र अनगिनत रूपोंमें नजर आ रहे हैं। इन रोगोंका नामकरण तथा इनके रूप और कारणका निश्चय करनेके लिए बहुत अधिक प्रयत्न किया जा रहा है जिसमें इनके उपचारका कोई तरीका मालूम किया जा सके।

इन कठिन नाड़ी-रोगोंकी वृद्धिके साथ-साथ इन रोगोंके कुछ बाह्य लक्षण भी प्रत्यक्ष होने लगे हैं, पर इन लक्षणोंके सहारे रोगोंका वास्तविक रूप समझनेमें कोई सहायता नहीं मिलती। फिर भी अगर नाड़ी-रोग-वालेकी अवस्थाकी जांच की जाय तो भीतर अशांतिके कुछ चिह्न अवश्य देख पड़ेंगे। रोगीको अंदर कुछ परेशानी-सी मालूम होती रहती है, पर वह उस परेशानीको समझ नहीं पाता, उसकी व्याख्या नहीं कर सकता, उसे उसका कारण भी ज्ञात नहीं होता और वह इस प्रकारकी कोई गड़बड़ी होनेकी बात भी स्वीकार नहीं करता।

किसीको हम बहुत बकवाद करते देखते हैं तो कोई बिलकुल मौन रहता है, किसीको अनिद्राकी शिकायत है तो कोई बिना विश्राम किये लगातार काम ही करता रहता है, कोई आलसियोंका सरदार बना बैठा है तो कोई अपनेको बिलकुल बेकार समझ और दुनियासे असंतुष्ट हो आत्महत्याकी भावना लिये फिरता है, कहीं किसी लखपतीको भविष्यकी चिंताएं सताती रहती हैं—जो कभी उसका पिंड नहीं छोड़तीं—तो कोई अकारण ही भयसे कांपता रहता है, किसीका कोई अंग या सारा शरीर ही बेकार है तो कुछ लोगोंमें उन्मादके परस्पर-विरोधी लक्षण देख पड़ते

हैं। ये सभी रोग लोगोंको अल्पाधिक अपनी शक्तिका उपयोग करनेसे वंचित कर देते हैं—किसीका अपने अंगोंपर ही अधिकार नहीं रह जाता तो किसीका अपने विचारों, इच्छा और शब्दोंपर काबू नहीं रहता। सारांश यह कि इन रोगोंके रूप इतने भिन्न होते हैं कि हजारों रोगियोंका परीक्षण करनेपर भी किन्हीं दोमें एक—जैसे बाह्य लक्षण नहीं देख पड़ते। इन उलझनमें डालनेवाले लक्षणोंके बीच यदि चिकित्सकोंको कारण, नामकरण और उपचारविधिका निश्चय करनेके लिए कोई स्पष्ट आधार न मिले तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। नाड़ियोंको कुछ कालके लिए पूर्णतः निःशक्त कर देनेमें समर्थ होनेपर भी औषधोंद्वारा रोगमुक्त या अवस्थामें सुधार करनेमें अभीतक कोई सफलता नहीं मिल सकी हैं। यह खयाल बिलकुल गलत है कि औषधोंके जरिये आरोग्य लाभ होता है। सच तो यह है कि शरीर ही अल्पाधिक सक्रियताके साथ हानिकारक पदार्थोंको बाहर निकालनेका प्रयत्न करता रहता है।

एक हालतमें विषको बाहर निकालनेके लिए शरीरमें अधिक सक्रियता देख पड़ती है। यह अवस्था तब उत्पन्न होती है जब औषध इतनी कम मात्रामें दी जाती है कि वह शरीरको पूर्णतः निश्चेष्ट करनेमें समर्थ नहीं होती। एलोपैथीकी विषैली दवाएं बड़ी मात्रामें देनेपर शरीरमें निश्चेष्टताके चिह्न अवश्य देख पड़ते हैं, पर इससे तीव्र रोगके रूपमें आरोग्यलाभके लिए चलनेवाले शरीरके प्रयत्नके साथ जीर्ण रोगके बाह्य लक्षणोंका भी कुछ कालके लिए अंत हो जाता है। इस प्रकार इस पद्धतिमें रोगके लक्षण गायब होकर फिर-फिर प्रकट होते रहते हैं। तेज विषवाली दवाकी मात्रा अधिक होनेपर तो शरीर इस कदर निश्चेष्ट हो जाता है कि कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। कम मात्रा होनेपर निश्चेष्टता मृत्युका कारण भले ही न हो, पर शरीरके लिए हानिकारक तो होती ही है।

यह तो निःसंकोच रूपसे कहा जा सकता है कि नाड़ीसंबंधी बहुत-से

रोग उन विषैली दवाओंके ही कारण होते हैं जो छोटे-छोटे रोगोंको दूर करनेकी गरजसे दी जाती हैं। दवाकी मात्रा स्वल्प होनेपर शरीर निश्चेष्ट होनेके बजाय इस विषको बाहर निकालनेके लिए दूने जोरके साथ प्रयत्न करने लगता है, यह बढ़ी हुई सक्रियता आगे आनेवाली निश्चेष्टताका पूर्वरूप ही हुआ करती है।

## नाड़ी-रोग

जहांतक नाड़ी-रोगोंसे मुक्ति दिलानेका संबंध है, इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि बहुप्रशंसित प्रचलित औषधोपचार-पद्धति इस कार्यमें सर्वथा असमर्थ है; इसके अनुयायियोंने इन रोगोंके उपचारमें सहायक होनेमें अपनी पूर्ण असमर्थता प्रकट की है। जलवायुका परिवर्तन, यात्रा आदिके द्वारा ध्यान बंटाना या इस प्रकारके अन्य लाभदायक उपाय सुझाये जाते हैं। अगर इन उपायोंद्वारा कुछ क्षणिक लाभ हो जाय, तो भी यह निश्चय है कि चिकित्सकोंको इन रोगोंके कारण, स्वरूप आदिका जरा भी ज्ञान नहीं होता।

हमारे शरीरमें दो तरहकी नाड़ियां हैं—एक तो वे हैं जो इच्छाद्वारा नियंत्रित होती हैं और दूसरी वे हैं जो श्वास-प्रश्वास, पाचन और रक्त-संचलनका नियमन करती हैं। बहुत-से लोगोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मानसिक और नाड़ियोंके रोग भी और रोगोंकी तरह विजातीय द्रव्यके भारसे ही उत्पन्न होते हैं। शरीरकी साधारण क्रियामें रुकावट पड़ने या दर्द होनेपर हमें पहले-पहल रोगका ज्ञान होता है, पर यह ज्ञान रोगकी परिवर्द्धित अवस्थामें होता है। विजातीय द्रव्य अंग-विशेषमें एकत्र होकर उसकी साधारण क्रियामें तो बाधक होता ही है, वह उस अंगसे संबद्ध नाड़ियोंकी क्रियामें भी बाधक होता है। नाड़ियोंपर उसका प्रभाव होनेपर ही हमें रोगका ज्ञान हुआ करता है। ऊपर-ऊपर परीक्षा करनेवालोंकी दृष्टि केवल इच्छासे संचलित होनेवाली नाड़ियों या उन रोगोंकी ओर होती है जिनका संबंध इन नाड़ियोंसे नियंत्रित होनेवाले अंगोंसे होता है।

श्वास-प्रश्वास, रक्तसंचालन और पाचनमें बाधक होनेवाली खराबी बहुत धीरे-धीरे प्रत्यक्ष होती हैं। इस खराबीका भी नाड़ियोंपर असर होता है और वे हमें रोगका ज्ञान कराया करती हैं। ये नाड़ियां सीधे इच्छाद्वारा नियंत्रित नहीं होतीं, पर इन्हींकी साधारण क्रियापर वृक्क, फुप्फुस, हृदय, आमाशय, मूत्राशय आदि अंगोंकी क्रिया अवलंबित है। अगर इन अंगोंसे संबद्ध नाड़ियोंपर विजातीय द्रव्यका भार न होता और उसके कारण इनकी क्रियामें बाधा न पड़ती तो इन अंगोंके रोगोंका हमें पता ही न चल पाता। इसलिए इन अंगोंके रोगोंके साथ इनका संचालन करनेवालनी पाड़ियोंका रुग्ण होना बिलकुल अनिवार्य है। इस प्रकार पाचनक्रियाकी खराबीका अर्थ उसका संचालन करनेवाली नाड़ियोंकी भी खराबी है।

पाचनक्रियाका साधारण अवस्थामें होना शरीरके स्वस्थ होनेकी पहली शर्त है। विजातीय द्रव्य यो ता माता-पितासे प्राप्त होता है या पाचनक्रियाके अव्यवस्थित होनेसे शरीरमें एकत्र होता है। इसलिए प्रत्येक रोग और परिणामतः सभी नाड़ी-रोग या तो पाचनकी खराबीके कारण होते हैं या माता-पितासे प्राप्त होते हैं। रोग चाहे जो भी हो, वह इन्हीं दोमेंसे किसी एक कारणसे होता है। शरीरमें जीवशक्ति मौजूद रहनेपर वह तीव्र रोगके द्वारा इस विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है, शक्ति शेष न होनेपर जीर्ण रोग प्रकट होते हैं। ये रोग बराबर बने रहते हैं, अधिक-से-अधिक यही होता है कि उनका रूप बदल जाता है और उनकी चरम परिणति मानसिक और नाड़ी-रोगोंके रूपमें हो जाया करती है। इन रोगोंके लक्षण चाहे जो भी हों, जीर्ण (प्रक्षिप्त) शारीरिक रोग ही होते हैं। नाड़ी-रोगोंमें भी अन्य रोगोंकी तरह ठंढ या बढ़ी हुई गर्मी देख पड़ती है और ये दोनों ही अवस्थाएं शरीरके ज्वर-ग्रस्त होनेका परिणाम हैं।

इस बातका निश्चय हो जानेपर कि नाड़ीरोग भी जीर्ण (प्रक्षिप्त) ज्वरके ही सूचक हैं, हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि इनका कारण भी

वही है जो मसूरिका, आरक्त ज्वर, रोहिणी, उपदंश आदि रोगोंका है और उपचार वही है जो उन रोगोंका है। यह बात बहुतसे नाड़ी-रोग-ग्रस्त लोगोंके सफल उपचारसे प्रमाणित भी हो चुकी है।

रोगका समुचित उपचार तो तभी हो सकता है जब उसका वास्तविक कारण और स्वरूप ठीक-ठीक समझमें आ जाय। जो नायक सेनाकी स्थितिसे भलीभांति परिचित है वही उसका संचालन कर सकता है, जो अपरिचित है वह उसकी पराजयका ही कारण होगा। जो लोग शरीर-की अवस्थासे परिचित हुए बिना अंग-विशेषकी चिकित्सामें विशेषज्ञ होनेका दावा करते हैं वे अपने चिकित्साशास्त्रकी हंसी कराते हैं। जिन लोगोंको सारे शरीरका और प्राकृतिक क्रियाओंकी एकसूत्रताका ज्ञान है वे ही इस रहस्यको और संचालक नियमोंको समझ सकते हैं। प्रकृति एक ही पदार्थको विभिन्न रूपोंमें हमारे सामने प्रस्तुत करती रहती है जो तापके उसी प्रकार परिणाम होते हैं जिस प्रकार एक ही पदार्थ जलके वाष्प आदि विभिन्न रूप।

औषधोपचार-पद्धति न तो नाड़ीरोगोंका उपचार कर सकती है न उनका निदान ही। कभी-कभी तो चिकित्सक नाड़ीरोगोंका अस्तित्व-तक माननेको तैयार नहीं होते। जिन रोगियोंने औषधोपचारकोंसे निराश होकर मेरी पद्धतिके सहारे रोगसे मुक्ति पायी है वे ही उनकी अयोग्यताके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होंने बहुतसे रोगियोंको बिलकुल स्वथ और रोगको सिर्फ वहम बतलाया था; पर आकृति-विज्ञानके सहारे विजातीय द्रव्यकी विद्यमानता स्पष्टतः देखी जा रही थी। इन सभी रोगियोंने मेरे उपचारसे लाभ उठाया और विजातीय द्रव्य जितनी शीघ्रतासे निकला उतनी ही शीघ्रहतासे वे नीरोग भी हुए। आकृति-विज्ञानके द्वारा बहुत दिन पहले ही नाड़ी-रोगके पूर्व रूपका पता चल जाता है। पृष्ठभागमें विजातीय द्रव्यका एकत्र होना नाड़ी-रोगका विशेष रूपसे कारण हुआ करता है।

## मानसिक रोग

मानसिक रोगोंमें भी नाड़ी-रोगवाली ही बात होती हैं। औषधोपचारक इन रोगोंके संबंधमें कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं। मस्तिष्कके विकृत होनेका कारण वह नहीं हुआ करता जो प्रायः बतलाया जाता है, बल्कि एक मात्र कारण विजातीय द्रव्यका भार होता है जो वर्षोंसे जमा होता रहता है। मानसिक रोग और तथाकथित वृद्धिशील लकवा (प्रोग्रेसिव पैरेलिसिस) अंतिम और असाध्य रूप हुआ करते हैं। अप्राकृतिक जीवनके परिणामस्वरूप पाचनके खराब हो जानेपर विजातीय द्रव्य अज्ञात रूपमें क्रमशः एकत्र होता रहता है। सभी लोगोंका जीवन एक-सा ही अप्राकृतिक नहीं होता, इसलिए मानसिक रोग सबको नहीं होते; इनका होना विजातीय द्रव्यकी वृद्धि और परिमाणपर निर्भर है। मानसिक रोग तभी होते हैं जब विजातीय द्रव्य बहुत बढ़ गया हो और पृष्ठभागकी ओरसे मस्तिष्क उससे आक्रांत हो गया हो। बढ़ती हुई सभ्यता इन रोगोंका मुख्य कारण है; क्योंकि लोग प्राकृतिक नियमोंका अधिकाधिक उल्लंघन करने लगे हैं। मुख्य दोष प्रचलित औषधोपचार-पद्धतिका है जिसके सिद्धांत प्राकृतिक नियमोंके बिलकुल उलटे पड़ते हैं। पानी स्वास्थ्यके लिए हानिकारक समझा जाता है और उसके बदले शराब, सोडावाटर, लेमोनेड आदि पीनेकी राय दी जाती है। लगातार सिगरेट पीते रहकर मुंह चिमनी बना लिया जाता है और पेट तो शराबका पीपा ही बन जाता है। हवा और प्रकाशसे रहित कमरे और ठसाठस भरे हुए कारखाने भी कुछ कम हानिकारक नहीं होते।

देहातमें लोग प्रकृतिके सम्पर्कमें रहते हैं, मैदानोंमें काम करते हैं और औषधोपचार-पद्धतिके नियमोंसे बहुत कुछ अनभिज्ञ रहते हैं, इसलिए वहां मानसिक रोग शायद ही कभी देखनेमें आता है; अगर होता भी हैं तो केवल शराबियोंकी संतानोंको। इस प्रकारके बच्चोंको विजातीय द्रव्य माता-पितासे ही प्राप्त होता है जो मस्तिष्कको विकृत कर देता है

या और किसी भयंकर रोगका कारण होता है। बच्चोंकी शारीरिक अवस्था मां-बापके ही अनुरूप हुआ करती है।

मादक द्रव्योंका पाचन-शक्तिपर इतना अधिक जोर पड़ता है कि और किसी कार्यके लिए शरीरमें शक्ति ही नहीं बचती। मद्यपोंमें क्लान्ति और तन्द्रा देख पड़नेका यही कारण होता है। पाचनके समय बने हुए खमीरकी गैसका मस्तिष्कपर दबाव पड़नेसे वह विकृत हो जाया करता है। नशेके समय हुए गर्भाधानसे उत्पन्न बच्चेकी अगर नयी अवस्थामें ही मृत्यु न हो जाय तो आगे चलकर उसमें उन्मादके लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

माता-पितासे मिले या अपने कार्योंसे एकत्र हुए विजातीय द्रव्यसे जो मानसिक रोग उत्पन्न होता है उसके मूलमें पाचनकी खराबी अवश्य होती है। इस प्रकार और रोगोंकी तरह उसका भी आरंभ उदरमें ही होता है।

मनुष्यका जीवन जितना सादा और प्राकृतिक होगा उतना ही वह सुखी और स्वस्थ होगा। गुलामीके दिनोंमें हब्शी सूखा-रूखा खाकर भरपूर मेहनत करते थे, इसलिए वे मानसिक रोगोंसे बचे रहते थे, पर अब आजाद हो जाने और रहन-सहनका स्तर ऊंचा हो जानेपर उन्होंने सभ्यताके विषका पान कर लिया है और वे उसीके परिणामोंके भागी भी हो रहे हैं।

पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको मानसिक रोग कम होते हैं, क्योंकि स्त्रियां अधिक संयमसे रहती हैं और मादक द्रव्यों तथा तम्बाकूका व्यवहार भी कम ही करती हैं। उनके उन्मादका कारण बहुत कुछ माता-पितासे प्राप्त विजातीय द्रव्य ही हुआ करता है।

मानसिक रोगमें प्रायः देखा जाता है कि रोगके पहले या रोग होनेके समय शरीर और मस्तिष्ककी स्फूर्ति बढ़ जाया करती है। इस रोगका विशेषज्ञ होनेका दावा करनेवाला औषधोपचारक इसका कारण नहीं बतला सकता। शरीर और विशेषकर मस्तिष्कमें बढ़नेवाले विजातीय द्रव्यका भार मस्तिष्क और नाड़ियोंके केन्द्रपर पड़नेपर उसकी प्रतिक्रिया

भारग्रस्त अंगोंकी बढ़ी हुई स्फूर्तिमें प्रकट होती है। शरीर और मस्तिष्क बिना विश्राम किये एक कामके बाद दूसरे काममें संलग्न होते रहते हैं, पर रोगीको कभी सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता। यह असाधारण स्थिति बाल्यावस्थामें विशेष गुणके रूपमें प्रत्यक्ष होती है—पर बाल्यावस्थाकी यह विशेषता युवावस्थामें शायद ही बनी रहती है और अंतमें यही मानसिक रोगका रूप धारण कर लेती है।

पृष्टभागमें विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जानेपर उदरकी नाड़ियों, सुषुम्ना तथा इडावात नाड़ीपर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है और यही मानसिक रोगका मुख्य कारण हुआ करता है। ज्वरके अन्तर्लीन रहनेसे रोग जीर्णावस्थामें पहुंच जाता है और अंतमें मानसिक रोगके रूपमें प्रकट होता है। तीव्र रोगद्वारा विजातीय द्रव्यके निकल जानेपर मानसिक रोग बीच-बीचमें गायब भी हो जाया करता है, पर भार बढ़नेपर फिर वह मौजूद हो जाता है।

## वृद्धिशील स्तंभ

वृद्धिशील स्तंभ (प्रोग्रेसिव पैरेलिसिस) मानसिक रोगका ही परिवर्द्धित रूप है। औषधोपचारकोंका यह कहना कि यह रोग बली और स्वस्थ लोगोंको ही हुआ करता है, उनके अज्ञानका ही परिचायक होता है। इस प्रकारका कठिन रोग कभी एकाएक हो ही नहीं सकता। आकृति-विज्ञानकी सहायतासे इसका पूर्वरूप वर्षों पहले देखा जा सकता है।

मानसिक रोगका कारण विजातीय द्रव्य ही होता है, इसलिए इस रोगसे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय विजातीय द्रव्यका निष्कासन है। बहुत-से रोगी इस प्रकार अच्छे किये जा चुके हैं। हां, यदि विजातीय द्रव्यका स्थान ऐसा हो कि उसका निकाला जाना संभव न हो तो रोगको असाध्य ही समझना चाहिए। मानसिक रोग भी यक्ष्माकी तरह रोगका चरम रूप है, इसलिए समय रहते गड़बड़ी ठीक करनेपर ही आरोग्यलाभ संभव होता है।

आजकल बहुत-से मानसिक रोग असाध्य माने जाते हैं, पर यह निरा भ्रम है। मैंने एक ऐसे ही रोगीको नीरोग किया है। एक आदमीको उपदंशके बाद वृद्धिशील स्तंभका कठिन रोग हो गया था। उसका पाचन बहुत दिनोंसे विकारग्रस्त था जो मानसिक उत्तेजना और कारबारकी चिन्ताके कारण दिनोंदिन खराब ही होता गया। चिकित्सकोंकी रायसे उसने सोडा आदि पीना शुरू किया, पर इससे उसकी हालत सुधरनेके बजाय और बुरी हो गयी। नैराश्यकी हालतमें एक विशेषज्ञकी रायसे उसे पागलखानेमें रखनेका निश्चय हुआ। अंतिम उपायके रूपमें मेरी पद्धतिकी आजमाइशकी बात ठहरी। उपचार आरंभ होते समय वह न तो स्वयं कुछ कहता था और न प्रश्नोंका उत्तर देता था। उसकी शारीरिक इच्छाएं भी निःशेष हो गयी थी। ठंढ लानेवाले स्नानों और प्राकृतिक आहारके द्वारा तीन ही दिन बाद उसके पाचनमें सुधारके लक्षण देख पड़ने लगे। एक सप्ताहमें तो उसके होश-हवास बहुत कुछ ठीक हो गये और दो मासके अंदर ही वह बिलकुल नीरोग हो गया। इससे भी रोगोंके मूलतः एक होनेकी बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

# क्षय तथा अन्य फुप्फुसीय रोग

क्षय वर्तमान युगका सबसे भयंकर रोग है। यह न तो पेशेका खयाल करता है और न अवस्थाका; जो इसके चंगुलमें फँस जाता है उसका फिर त्राण नहीं होता। औषधोपचारकोंके लिए तो यह एक पहेली बना हुआ है और उनकी अक्ल काम नहीं कर रही है।

फुप्फुसीय क्षय जितने रूपों और अवस्थाओंमें फैला हुआ है वैसा शायद ही कोई रोग फैला हो। इसके बाहरी लक्षणोंमें इतनी विभिन्नता देख पड़ती है कि दो रोगियोंमें शायद ही एक—जैसे लक्षण देख पड़ें। कोई सांस लेनेमें कष्ट होनेकी शिकायत करता है तो कोई सिरमें दर्द होनेकी, कोई पाचन खराब होनेकी बात कहता है तो किसीको मरनेके पंद्रह दिन पहलेतक कुछ पता ही नहीं चलता और एकाएक फुप्फुसोंमें जलन शुरू हो जाती है, किसीको कोई शिकायत नहीं जान पड़ती और अचानक तीव्रगतिसे बढ़नेवाले क्षयसे आक्रांत होकर कालका ग्रास बन जाता है; किसी-किसीकी समझमें दांतोंके गलनेका रोग होता है, पर दरअसल वह होता है क्षय ही। फुप्फुसोंके आक्रांत होनेपर कुछ लोगोंके कंधोंमें दर्द होता है और किसीकी आंखों या कानोंमें तकलीफ होती है, पर असल रोग छिपा ही रहता है। ओष्ठका रोग, ग्रसनिका और कंठका प्रतिश्वास तथा पीनस—सभी मूलतः क्षय ही होते हैं। कुछ लोगोंके पैरोंमें रोग होता है, पैरोंमें खुले फोड़े होते हैं और कुछ लोगोंको चर्मरोग होता है। इस प्रकार जो लोग आकृति-विज्ञानसे अनभिज्ञ हैं वे रोगका मूल कारण न समझकर धोखा खाया करते हैं।

क्षयके रोगियोंमें एक विशेष बात यह देखी जाती है कि वे दिनमें ही नहीं, रातमें सोते समय भी मुंह खुला रखते हैं। इसका कारण भीतरका बढ़ा हुआ ताप होता है जिसे शांत करनेके लिए बाहरकी ठंढी हवा तेजीसे ग्रहण करना आवश्यक हुआ करता है।

शरीरमें प्रवाहित होनेवाले रक्तको हवाकी सहायतासे साफ करते रहना फुप्फुसोंका ही काम है। जब उनपर विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जाता है और वे यह कार्य सम्यक् रूपमें नहीं कर पाते तब मैल बाहर न निकलकर शरीरमें ही रह जाता है और इस प्रकार मलके एकत्र होते रहनेसे पहलेसे मौजूद विजातीय द्रव्यका परिमाण बहुत बढ़ जाता है। फुप्फुसोंका उससे अधिक संबंध होनेके कारण सबसे अधिक क्षति उन्हींको पहुंचती है। परिणाम यह होता है कि रक्तकी हालत और भी खराब हो जाती है और वह शरीरके अंदर शुष्क और क्षय करनेवाली गर्मी उत्पन्न कर देता है। इस बढ़े हुए आंतरिक तापके कारण फुप्फुसोंका प्रदाह और गलना जीर्ण रूप धारण कर लेता है। इस सड़े हुए अंशको लोग जीववस्तु या तंतु (टिसु) कहते हैं और यही खांसीके साथ गलित कफके रूपमें निकला करता है।

क्षयवाले रोगोंसे आज लोगोंका डरना उचित ही है। औषधोपचार-पद्धतिके अनुयायी जबतक यह असाध्य रूप नहीं धारण कर लेता तबतक रक्तकी या यंत्रद्वारा हृदयकी जांच कर इसका ठीक-ठीक निदान नहीं कर पाते। जिस रोगकी पहचान वर्षों पहले हो सकती है उसका इन चिकित्सकोंकी, निदानकी पद्धति ठीक न होनेके कारण, कुछ पता ही नहीं चल पाता।

ट्यूबरक्यूलिनद्वारा फुप्फुसोंको रोगमुक्त करनेका इनका प्रयत्न वैसा ही निष्फल होता हैं जैसा हालमें ही नश्तर लगाकर रोगजन्य गड्ढे दूर करनेका प्रयत्न हुआ है। इनके पास ऐसा कोई उपाय नहीं जिसका अवलंबनकर फुप्फुसोंको विकृति या नष्ट होना रोका जा सके। हां, मेरी पद्धतिसे यह ध्वंसकार्य जिस मार्गसे वर्षोंसे धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा है उसी मार्गसे पीछे लौटनेके लिए बाध्य किया जा सकता है। फुप्फुसीय रोगोंके उपचारमें सबसे मुख्य बात आरंभिक अवस्थमें ठीक समयपर उनकी पहचान है जो आकृति-विज्ञानके द्वारा वर्षो पहले क्या, बचपनमें ही हो सकती है। इस प्रकार क्षयरोगकी दृष्टिसे इस निदान-

पद्धतिका विशेष महत्त्व है। इन चिकित्सकोंके लिए तो समयपर रोगकी पहचान हो जानेका भी कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि वे क्षयरोगको, चाहे वह आरंभिक अवस्थामें हो या बढ़ी हुई अवस्थामें, कभी अच्छा कर ही नहीं सकते। रोगकी आरंभिक अवस्था ऐसी होती भी नहीं कि रोगीको उसका जरा भी आभास हो सके, इसलिए क्षयकी ओर उसकी प्रवृत्ति होनेका उसे विश्वास दिलाना बहुत मुश्किल होता है। मैंने अपने घरकी एक अल्पवयस्क परिचारिकासे, जो देखनेमें तंदुरुस्त जान पड़ती थी, सद्भावनासे प्रेरित होकर कहा कि 'तुम्हें क्षयका रोग है, मेरी उपचार-विधिका प्रयोग करो अन्यथा यह एक वर्षमें घातक सिद्ध हो सकता है।' परिचारिकाको मेरी बात अच्छी नहीं लगी और उसने विश्वास दिलाते हुए कहा कि मैं पूर्णतः स्वस्थ हूं, किसी तरहके उपचारकी जरूरत नहीं है। मैं चुप रह गया और उसकी मृत्युके चार महीने पहले फिर वही चेतावनी दी। दुर्भाग्यवश उसने पुनः वही उत्तर दिया। तीन महीने बाद उसने चारपाई पकड़ ली और एक ही मास बाद आस्कंदित या प्लुतक्षय (गैलपिंग कंजंप्शन) ने उसका अंत कर दिया।

फुफ्फुसीय रोग किसी पूर्वरोगकी, जो दूर न किया जाकर दवाके जरिये दबा दिया गया होता है, चरम परिणति है। यौन रोग ही अधिकांश फुफ्फुसीय रोगोंके कारण होते हैं। बच्चोंमें भी इन्हींके कारण क्षयकी पूर्व-प्रवृत्ति प्रस्तुत हो जाती है। पिताके शरीरमें जो विजातीय द्रव्य जीर्णावस्थामें मौजूद रहता है वही संतानमें पहुँच जाता है और गंडमाला (स्क्राफुला) या क्षयका कारण होता है। पिताके शुक्रमें उसके सारे गुण-दोष सूक्ष्म रूपमें मौजूद रहते हैं और संतानको प्राप्त हो जाते हैं। मैंने गंडमालावाले सभी रोगियोंको आगे चलकर क्षयसे आक्रांत होते देखा है। इस प्रकार पूर्ववर्ती रोग परवर्तीका आरंभिक रूप हुआ करता है और गंडमालाकी स्थितिमें ही इसकी पहचान कर ली जा सकती है, जब कि शरीरमें विजातीय द्रव्यको बाहर निकालकर मर्मांगोंकी रक्षा करनेकी पर्याप्त शक्ति मौजूद होती है। दिनोंदिन यह शक्ति क्षीण

होती जाती है और जब शरीर क्षय-ग्रस्त हो जाता है तो वह विजातीय द्रव्यकी विनाशक्रियासे मर्मांगोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है। जो लोग वस्तुतः स्वस्थ हैं वे अस्थायी रूपमें विजातीय द्रव्यके शरीरमें एकत्र हो जानेपर भी कभी क्षयसे आक्रांत नहीं हो सकते। चाहे जितनी बड़ी संख्यामें क्षयके कीटाणु उनके शरीरमें क्यों न प्रविष्ट हो जायं। क्षयकी वृद्धिके लिए भीतर ध्वंसक तापका होना आवश्यक है। क्षयके कीटाणु इस असाधारण तीव्र ज्वरकी अवस्थामें ही बढ़ते भी हैं। इस प्रकारका असाधारण ज्वर तभी होता है जब या तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विजातीय द्रव्य प्राप्त होता रहा हो या व्यक्तिने गलत तरीकेसे जीवन व्यतीत कर अपना शरीर जर्जर कर डाला हो।

जाननेकी विशेष बात यह है कि और रोगोंकी ही तरह फुप्फुसीय रोगोंका भी उद्गमस्थान उदर या अशक्त पाचनांग ही होता है। यह बात अवश्य है कि बहुतोंको रोग पितासे ही प्राप्त हुआ होता है, पर यह नहीं माना जा सकता कि विजातीय द्रव्य फुप्फुसोंको सीधे आक्रांत कर लेगा। वास्तविक स्थिति यह होती है कि और अंगोंके मुकाबलेमें फुप्फुसोंका विकास नहीं हुआ होता और वे कमजोर और नाजुक रहते हैं जिससे उनमें निरोधकी शक्ति अधिक नहीं आ पाती और विजातीय द्रव्यके एकत्र होनेके स्थान बन जाते हैं। पाचनकी खराबीके कारण एकत्र होनेवाला विजातीय द्रव्य भीतरके तनावके कारण वहीं एकत्र होता है जहां निरोध कम होता है, इसलिए जिन लोगोंमें फुप्फुसीय रोगोंकी ओर पैतृक प्रवृत्ति है उन्हें इस बातका विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिए कि शरीरमें नया विजातीय द्रव्य एकत्र न होने पाये।

भोजनमें परिवर्तन होनेके कारण पाचनशक्ति क्षीण हो जानेपर गर्म देशोंके बनमानुस यूरोपके चिड़ियाखानोंमें जल्द ही क्षयग्रस्त होकर मर जाते हैं। अबतक इसका सारा दोष ठंढी आबहवाके मत्थे मढ़ा जाता रहा है। इस बातमें सत्यका अंश इतना ही है कि ठंढे देशोंमें पाचनकी क्रिया जरा मंद गतिसे हुआ करती है, विशेषकर उस हालतमें

जब प्राणीको प्रकृतिद्वारा निर्धारित आहार प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार दो बात उनके प्रतिकूल पड़ती हैं। बनमानुसोंके उनके निवासस्थान उष्ण प्रदेशसे हटाये जानेपर मैं उनके स्वास्थ्यकी विभिन्न अवस्थाओंको ध्यानसे देखता रहा हूं और अपने निदानके सहारे इस निष्कर्षपर पहुंचा हूँ कि उनका पाचन ही खराब होता है और उसके बाद ही और खराबियां पहुंचती हैं। मनुष्योंके संबंधमें भी यही बात होती हैं; अंतर सिर्फ यह होता है कि उनके आदी हो जानेके कारण परिस्थितियां और अनुकूल हो जाती हैं।

क्षयके रोगियोंमें मैंने देखा है कि उनका शरीर चुने हुए अच्छे आहार से भी पोषण प्राप्त करनेकी अवस्थामें नहीं होता; क्योंकि भीतरकी तेज गर्मीसे वह बिलकुल सूख जाता है। पोषण खाद्य पदार्थोंके कृत्रिम संयोग या केंद्रीकरणपर नहीं; बल्कि अंगोंकी पचानेकी शक्तिपर निर्भर है। जिनका रोगियोंसे संपर्क है वे अच्छी तरह जानते हैं कि पाचन-शक्तिमें कितना अंतर पड़ता है। अगर शरीरमें विजातीय द्रव्य पहलेसे ही बहुत भरा तो तो फुप्फुसोंके लिए विशेष रूपसे खतरा रहता है; क्योंकि उसे सिरकी ओर बढ़नेके लिए फुप्फुसोंसे होकर ही जाना पड़ेगा। यदि एक बार विजातीय द्रव्य वहां जमा हो जाय तो फिर वे जमावके लिए स्थायी स्थान हो जाते हैं और तब सिरकी ओर उसका बढ़ना रुक जाता है।

फुप्फुसोंका गलना आरंभ होनेपर सबसे पहले शीर्षभागका नाश होता है। कारण यह होता है कि विजातीय द्रव्य खमीरके रूपमें परिणत होनेपर हमेशा ऊपरकी ओर बढ़ता है। फुप्फुसोंके ऊपरका हिस्सा कंधोंमें समाप्त होता है। जब खमीरकी क्रिया आरंभ होती है तो खमीर बनानेवाला पदार्थ ऊपर छोरतक बढ़नेकी कोशिश करता है, पर कंधोंकी रोकके कारण आगे नहीं बढ़ पाता। इसी कारण इन स्थलोंको सबसे अधिक क्षति पहुँचती है। कंधोंमें सूई चुभनेकी-सी पीड़ा होनेका यही कारण है जिसका अनुभव फुप्फुसोंका नाश होनेके पहले क्षयके रोगियोंको हुआ करता है।

# आंतरिक व्रणग्रंथिका कारण और उपचार

यक्ष्मिकीय व्रणग्रंथि (ट्यूबरकुलर नोड्यूल) की उत्पत्ति भी ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अर्श, कर्कटिकाकी गांठों, फोड़ें या छोटी-से-छोटी फोड़ियोंकी होती है। स्वस्थ शरीरकी त्वचा आर्द्र होती है; इसके विपरीत जो शरीर जीर्णरोगसे ग्रस्त होता है उसकी त्वचा प्रायः शुष्क और निष्क्रिय होती है। पहले प्रकारके शरीरमें विकृत द्रव्यको बाहर निकालनेके लिए जीवशक्ति पर्याप्त मात्रामें मौजूद रहती है, पर दूसरे प्रकारके शरीरमें इस शक्तिका अभाव होता है जिससे विकृत द्रव्य, जिसका बाहर निकलना आवश्यक है, शरीरमें एकत्र होता रहकर रोगकी प्रवृत्ति ला दिया करता है। लोगोंके शरीरमें, विशेषकर नितंब, गर्दन, हाथ-पैर आदिमें प्रायः फोड़ा निकलता रहता है। फोड़ेके कारण शरीरमें बड़ी बेचैनी रहती है, पर उसके फूटकर बह जानेपर बेचैनीसे छुटकारा मिल जाता है और शरीरमें नयापन या कम-से-कम हलकापन और ताजगी अवश्य मालूम होती है। अब जरा इस फोड़ेके मूल कारणपर विचार कीजिए।

जहां फोड़ा निकलनेवाला होता है वहाँ कुछ दिन, बल्कि हफ्तों पहलेसे कड़ापन मालूम होता है और वह भाग लाल भी हो जाता है। उसका आकार दिनोंदिन बढ़ता जाता है, सूजन हो आती है और अंतमें त्वचाके नीचे ठोस और कड़ी गांठ बन जाती है जिसमें बड़ी पीड़ा और जलन भी होती है। उस जगहकी त्वचा तन जाती है और उस अंगका संचालन करनेपर बहुत कष्ट होता है। जब फोड़ा चरम परिणतिकी अवस्थामें पहुंचता है तो वह मुलायम पड़ने लगता है और अंतमें भीतर-का पदार्थ चमड़ेमें मुंह बनाकर बाहर निकल पड़ता है। इस प्रकार एकत्र विजातीय द्रव्य, जिसने फोड़ेकी उत्पत्ति की थी, सीधे-सीधे शरीरसे बाहर

निकल जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विकृत द्रव्यको बाहर निकालनेकी शरीरकी नैसर्गिक क्रियाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि हम प्रत्येक व्यक्तिके शरीरमें इसी प्रकारकी क्रिया होते क्यों नहीं देखते? पसीना सबको नहीं आता, किसीको आता है किसीको नहीं आता। वही हालत इसको भी है। यह शरीरकी जीवशक्तिपर निर्भर है। जिस शरीरमें जीवशक्तिका भंडार मौजूद है और सारा विजातीय द्रव्य मलमार्गोंसे नहीं निकल पाता वह फोड़ेके रूपमें उसे बाहर निकालता है। अगर शरीरमें इस प्रकारकी अवस्था उत्पन्न करनेके लिए आवश्यक जीवशक्ति नहीं है, दवा, अप्राकृतिक जीवन आदिके कारण या उभारकी स्थितिमें शक्तिका ह्रास हो गया है तो विजातीय द्रव्य एकत्र होता रहकर फोड़ेकी तरह क्षुद्र ग्रंथिका रूप ग्रहण कर लेता है और शरीर फोड़ेका रूप देनेके लिए उसे त्वचामें नहीं ला पाता। वह स्थान कड़ा पड़ जाता है और उसमें कोई तकलीफ नहीं होती, हालां कि उसको प्रक्रिया चलती रहती है। इस रूपमें यह फोड़ा न होकर व्रणग्रंथि (नोड्यूल) के रूपमें रहता है। यह व्रणग्रंथि एक प्रकारसे अविकसित फोड़ा या एक स्थानपर पिंडीभूत विजातीय द्रव्य है जो प्रायः शरीरमें बंद पड़ा रहता है। अगर शरीरमें जीवशक्ति शेष है तो यह ग्रथि त्वचामें अवश्य आ जायगी। गर्दन या शरीरके अन्य अंगोंमें इस प्रकारकी ग्रंथियां स्पष्ट रूपमें मालूम की जा सकती हैं। अगर जीवशक्ति पर्याप्त न हो तो ये ग्रंथियां शरीरके भीतरी अंगोंमें बन जाती हैं। अगर हम किसी प्रकार शरीरकी जीवशक्ति बढ़ा लें तो इन ग्रंथियोंमें शीघ्र ही परिवर्तन होता देख पड़ेगा।

जलचिकित्साका प्रयोग करनेपर प्रायः फोड़े निकलते देखे जाते हैं। आरोग्यलाभके इस तरीकेसे शरीर उस क्रियाको पुनः आरंभ करने योग्य हो जाता है जो बंद हो गयी होती है। फोड़े इसी क्रियाके परिणाम होते हैं। अगर शरीरकी शक्ति और अधिक बढ़ायी जा सके तो ये व्रणग्रंथियां गलपचकर समाप्त हो जायंगी। यदि मेरे स्नानोंकी विधिसे शारीरिक क्रिया-

को तीव्र करके इस बिखरे हुए विजातीय द्रव्यको मलमार्गोंसे निकाला जा सके और साथ ही इस बातका ध्यान रखा जाय कि कोई नया विजातीय द्रव्य भोजनादिके द्वारा शरीरमें प्रवेश न करे, तो ये कष्ट देनेवाले फोड़े कभी उत्पन्न ही न हों, क्योंकि ये ग्रंथियां जिस प्रकार बनती हैं उसी प्रकार अंदर ही छिन्न-भिन्न भी हो जाती हैं। जलचिकित्साकी पुरानी विधि ग्रंथियोंको छिन्न-भिन्न करनेमें तो समर्थ होती थी पर विजातीय द्रव्यको बाहर नहीं निकाल पाती थी; फल यह होता था कि शरीरमें जीवशक्ति मौजूद होनेपर फोड़े निकल आते थे, पर मेरी विधिसे फोड़े पैदा होनेकी स्थिति ही नहीं आ पाती, विजातीय द्रव्य प्राकृतिक ढंगपर और अधिक शीघ्रतासे बाहर निकल जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आंतरिक व्रणग्रंथि अविकसित फोड़ा होती है और उन्हीं कारणोंसे उत्पन्न होती है जिन कारणोंसे और तरहके फोड़े उत्पन्न होते हैं। शरीरके विभिन्न भागोंमें ग्रंथि बननेका कारण उन भागोंमें विजातीय द्रव्यका एकत्र होना ही है।

सभी प्रकारकी व्रणग्रंथियोंका कारण और रूप स्पष्ट हो जानेपर उनके उपचारकी विधि भी स्पष्ट हो जाती है। रोगको दूर करनेके लिए नश्तर लगाना जो प्रचलित औषधोपचार-पद्धतिमें बताया गया है, रोग दूर करनेका सबसे खराब तरीका है। इस विधिसे लक्षण तो दूर हो जाते हैं, पर मूल कारण बना रहता है। शरीरकी जीवशक्ति बढ़ाकर ही; जिससे शरीर विजातीय द्रव्यको बाहर निकालने योग्य हो जाता है, व्रणग्रंथियोंसे छुटकारा पाया जा सकता है। जीवशक्तिकी विशेषता होनेपर, चूनेका रूप धारण कर लेनेपर भी, ये ग्रंथियां अपने पूर्व मार्गसे लौटनेके लिए बाध्य कर छिन्न-भिन्न की जा सकती हैं और शरीरसे बाहर निकाली भी जा सकती हैं। हां, इसके लिए दीर्घकालतक मेरी विधिसे उपचार करना आवश्यक होगा।

खमीर बननेकी क्रियासे उत्पन्न विजातीय द्रव्यकी गति हमेशा एक ही दिशामें नहीं होती। कभी तो वह ऊपर बढ़कर फुप्फुसोंके सिरको

आक्रांत करता है और कभी बीचमें या सामने बढ़कर दमा, जुकाम और श्वासनलिकामें प्रदाह उत्पन्न करता है। हृद्रोगवाले व्यक्तियोंकी श्वास-नलिकामें प्रदाह अवश्य होता है भले ही वह उतना प्रकट न हो। अगर विजातीय द्रव्य फुप्फुसोंमें अधिक दिनोंतक रुका रह जाय तो उनमें तथा फुप्फुसावरणमें प्रदाह उत्पन्न कर देता है। यह शरीरका विजातीय द्रव्य-को बाहर निकालनेका ज्वरमूलक प्रयत्न है; पर यदि उपचार सावधानी-से न हो तो मृत्यु हो जानेकी संभावना रहती है। अगर मेरी विधि काममें लायी जाय तो उससे खतरा दूर हो जाता है; क्योंकि ठंढ लाने-वाले स्नानों-द्वारा रोगपर बड़ी आसानीसे काबू कर लिया जाता है और आरोग्य लाभ बड़ी शीघ्रतासे होता है।

फुप्फुसोंके प्रत्येक रोगमें उनके अंदर तापकी मात्रा बहुत अधिक होती है। श्वास लेनेके साथ ही वे हवाको ओषजन और नोषजनमें विभक्त कर देते हैं। ओषजन तो आंशिक रूपमें शरीरमें ही रह जाता है, पर नोषजन शरीरकी गंदगी वाष्पके रूपमें लेकर बाहर निकल जाता है। इस प्रकार फुप्फुसोंमें जलनेकी क्रिया बराबर चलती रहती है। स्वयं इस क्रियासे बहुत अधिक ताप उत्पन्न होता है; इसपर यदि फुप्फुसोंमें विजातीय द्रव्य एकत्र हो जाय या खमीर बनने लगे तो तापकी मात्राका और अधिक हो जाना स्वाभाविक ही है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, दंडाणु (बेसिलस) विजातीय द्रव्यके खमीरसे ही उत्पन्न होते हैं और तापकी एक विशेष मात्रा होनेपर ही उनकी वृद्धि होती है। क्षय आदि रोगोंमें तापमान बहुत अधिक रहता है, इसलिए क्षयके दंडाणुओंके बढ़ने योग्य अवस्था मौजूद रहती है। औषधविज्ञानको यह बात ज्ञात होते हुए भी वह मूल बातकी ओर ध्यान न देकर दंडाणुओंको अप्राकृतिक ढंगसे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है।

यही नहीं, औषधविज्ञान प्रत्येक रोगके लिए एक विशेष दंडाणु मान-कर उसकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करता है। यह बात भुला दी जाती

है कि जिस प्रकार जलवायुमें अंतर पड़नेपर एक ही जातिके पौधों और पक्षियोंके रूप-रंगमें अंतर हो जाता है। उसी प्रकार तापकी मात्रामें भिन्नता होनेपर इन दंडाणुओंके आकार-प्रकारमें भी अंतर हो जाता है।

मेरी विधिसे पूर्णतः परिचित लोगोंके लिए क्षयरोगके उपचारका ढंग निकालना उतना कठिन न होगा। शरीरको पहली अवस्थामें लानेके लिए आंतरिक तापका नियंत्रण और जीवशक्तिकी वृद्धि आवश्यक है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए आहारादिके नियंत्रणके साथ मेरे द्वारा प्रवर्तित स्नान परमावश्यक हैं। कठिनाई केवल स्नानोंको सही क्रममें चलानेमें होती है। शरीरका असाधारण ताप बहुत दिनोंतक घटनेका नाम ही नहीं लेता, इसलिए स्नानकाल और स्नानोंका क्रम रोगीकी अवस्थाका पूर्णरूपसे विचार करके निर्धारित करना चाहिए। रोगीको ताजी शुष्क वायुमें रखना चाहिए। इससे आरोग्य-लाभमें बड़ी सहायता मिलती है। धूप-स्नान भी विशेष लाभदायक होता है।

# फुफ्फुसीय रोगोंका प्राकृतिक उपचार

क्षयरोगमें 'ट्यूबरक्यूलिन' का टीका देनेका मैं कट्टर विरोधी हूं। इसकी तथाकथित प्रभावकारिताकी बड़ी आसानीसे व्याख्या की जा सकती है। विजातीय द्रव्यपर इस विषैले पदार्थके टीकेका असर गुंधे आटेमें खमीर मिलाने-जैसा (खमीर या ज्वर पैदा करनेवाला) होता है। इससे विजातीय द्रव्यसे बने हुए खमीरकी मौलिक अवस्थामें परिवर्तन हो जाता है और उसीके हिसाबसे शरीरके तापमानमें भी फर्क पड़ जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि यक्ष्माके दंडाणु (बेसिलस), जिनकी वृद्धि पूर्व तापमानमें ही समुचित रूपसे हो सकती है, एक दूसरी ही अवस्थामें पहुंच जाते हैं, जिसे लोग साधारणतः 'विलोप' कहा करते हैं; पर दरअसल विजातीय द्रव्य न तो कभी बाहर निकलता है और न रोगका मूल कारण ही दूर हो पाता है। टीका मिथ्योपचार है और हमेशा वही रहेगा। इसका स्वास्थ्यपर होनेवाला विनाशकारी प्रभाव कभी-न-कभी अवश्य प्रकट होता है। इसके आविष्कारपर जो असीम हर्ष प्रकट किया जा रहा था वह कुछ ही महीनोंके पश्चात् नैराश्यमें परिवर्तित हो गया है और लोग, यहांतक कि स्वतंत्र विचार रखनेवाले एलोपैथ भी इस टीकेकी घोर निंदा करने लगे हैं। आज तो ट्यूबरक्यूलिनके टीकेमें ऐतिहासिक दृष्टिसे भी कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है। इससे इस बातका एक और प्रमाण मिल जाता है कि किसी तरह टीका लगाना सबसे बड़ा अनाड़ीपन है।

अगर मेरी विधिसे कुछ लंबे अर्सेतक सावधानीके साथ उपचार किया जाय तो वर्द्धित क्षयसे भी मुक्ति मिल सकती है। रोग यदि बहुत बढ़ गया हो तो कठिनाई हो सकती है, पर इससे कम-से-कम इतना तो हो ही सकता है कि रोगकी अवस्था असह्य न होकर अंतिम समयतक सह्य बनी

रहे। क्षयके रोगीका नीरोग होना एकमात्र उसकी जीवशक्ति और पाचनांगके सुधारयोग्य आवस्थामें होनेपर निर्भर है। अगर पाचनशक्ति बढ़ाकर साधारण रूपमें लायी जा सके तो रोगी थोड़े ही दिनोंमें आश्चर्य जनक रूपमें आरोग्यलाभ करने लगेगा, इसमें असफल होनेपर रोगके दूर होनेकी संभावना नहीं रहेगी। मैंने क्षयके कई रोगियोंको बहुत थोड़े समयमें नीरोग किया है। इसका कारण यही था कि उनका पाचन सुधारयोग्य अवस्थामें था। इसके विपरीत पूयवाले रोगियोंमें मैंने देखा है कि यक्ष्मिकाओं (ट्यूबक्यूॅल) को परावर्तित करनेमें वर्षों लग जाते हैं और जब-जब यक्ष्मिकाका विघटन हुआ उभारकी दारुण अवस्था प्रस्तुत हो गयी। यह अवस्था खतरनाक तो नहीं थी, पर कष्टकर अवश्य थी। मेरी पद्धतिसे आंतरिक ज्वरका नियन्त्रन हो जाता है और यदि उसे काबूमें रखते हुए विजातीय द्रव्य परावर्तित किया जाय तो रोग धीरे-धीरे दूर हो जाता है।

अगर शरीरमें पर्याप्त शक्ति हो तो मेहनस्नान विजातीय द्रव्यको फुप्फुस और उदरसे हटानेका सबसे अच्छा साधन है। वाष्पस्नान भी इसमें सहायक होता है, पर गर्मीके मौसममें वाष्पस्नान न कराकर धूपस्नान कराना अच्छा होता है। भोजनमें सावधानी और ताजी हवा तो अनिवार्य है ही। अगर रोग बहुत बढ़ गया हो तो मेहनस्नान बहुत उत्तेजक होता है इसलिए ऐसे रोगीको हल्का कटिस्नान कराना अच्छा होता है। पानीका तापमान ८१°से८६° (फा०) तक हो और पानी स्नान करते समय कंधोंतक पहुँच जाय। आरंभमें स्नान केवल पांच मिनटका हो और बाद में अवस्थाके अनुसार समय बढ़ाया जाय। स्नान दिनमें कई बार कराया जाय और शरीरमें कुछ बल आ जानेपर मेहनस्नान कराया जाय। ऐसा भी हो सकता है कि जीवशक्ति और शरीरिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेवाली क्षमता आरोग्य प्रदान करने योग्य मात्रामें न हो, फिर भी स्नानोंसे अवस्थाका कुछ तो उपशमन हो ही जायगा। अगर पाचन सुधार योग्य अवस्थामें हुआ तो आरोग्यलाभकी भी आशा की जा सकती है।

तीस वर्षकी एक महिलाने जिसका रोग काफी बढ़ गया था, मेरी चिकित्सा आरंभ की। वह लगभग सर्वदा विशेषकर सोते समय, मुंहसे ही सांस लिया करती थी। उसकी माता इसी रोगसे मरी थी और संतानोंको इस रोगकी प्रवृत्ति उससे प्राप्त हुई थी। बाल्यावस्थामें यह महिला तथा उसके भाई-बहन गंडमाला (स्क्राफुला) के शिकार हो चुके थे। २० वर्षकी अवस्थामें उसका चेहरा गोल और भरा हुआ था और गालोंपर अस्वस्थता सूचक लालिमा थी जो जाड़ेके दिनोंमें नीलिमामें परिवर्तित हो जाती थी। तीसकी अवस्था होनेके पूर्व ही उसका मोटापन जाता रहा और कपोलोंका वर्ण तथा शरीरकी अवस्था बहुत कुछ साधारण हो गयी, पर इसके पश्चात् कुछ ही दिनोंमें यक्ष्माकी वृत्ति स्पष्ट होने लगी। कब्ज और अतिसार बारी-बारीसे रहने लगे और मलके रंग और गंधसे यह स्पष्ट हो गया कि पाचन विकृत हो गया है; सिर और दांतोंमें तो प्रायः दर्द होता ही था, शरीरमें भी, विशेषकर सीने और कंधोंमें, चिलक हुआ करती थी। यह दर्द फुप्फुसोंकी विनाश-क्रिया चलते समय ही होता है और उनके अंशतः नष्ट हो जानेपर बंद हो जाता है। मासिक स्राव भी कष्टके साथ और अनियमित रूपमें होता था—कभी-कभी महीनों रुका रहता और फिर प्रायः होता रहता। इन सबके साथ अशक्तता, असंतोष और नैराश्य तो बना ही रहता। मेरे आकृतिविज्ञानसे अपरिचित व्यक्ति उसे पूर्णतः स्वस्थ मानता। सुन्दर लाल रंग और भरा चेहरा किसी भी अनभिज्ञ व्यक्तिको धोखा देनेके लिए काफी थे। इस स्त्रीने अपनी अवस्था गंभीर समझकर ही मेरी चिकित्सा आरंभ की। मैंने उसे ठंढ लानेवाले स्नान तथा वाष्पस्नान करने, उत्तेजक आहारसे परहेज करने और अधिक-से-अधिक खुले स्थानमें रहनेकी राय दी। इस उपचारसे छह ही महीनोंमें उसकी हालत इस कदर सुधर गयी कि वह जहां सीढ़ियां चढ़ने और थोड़ा-सा चलनेमें लस्त हो जाती थी वहां दूरतक चलना भी उसे कुछ नहीं मालूम होता था। उसका पाचन ठीक हो गया, सिरदर्द जाता रहा और उसमें संतोष

और स्थिरता आ गयी। यह सब इस कारण हुआ कि विजातीय द्रव्य उदरकी ओर लौट आया। चिकित्साके प्रथम वर्षमें यक्ष्मिकाओंके विघटित होते समय दो बार उभार (क्राइसिस) प्रस्तुत हुआ जो लगभग दो-दो सप्ताह रहा। इस कालमें उसे कुछ निर्बलता जान पड़ी जो आरोग्य-लाभकी प्रतिक्रियाका सूचक था। दूसरे वर्षमें उसकी हालत बहुत सुधर गयी। इसमें भी दो बार उभार देख पड़ा। इस प्रकार लगभग दो वर्षोंमें वह बिल्कुल नीरोग हो गयी।

चालीस वर्षके एक यक्ष्मीको चिकित्सकोंने दक्षिण इटलीमें रहनेकी राय दी। रोग जीर्ण था इसलिए उसका उष्ण प्रदेशमें रहना उसके जीवनको एक वर्षके अंदर ही समाप्त कर देना होता। चार ही सप्ताहके उपचारके बाद उसकी हालत सुधरने लगी। उसके मूत्राशय और आंतोंमें जुकामके कारण सूजन हो आयी। नौ वर्ष पहले यह रोग काफी अर्से-तक रह चुका था। हां, इस बार उसका रूप उतना उग्र नहीं था और जल्द ही अच्छा भी हो गया। शरीरकी शक्ति बढ़नेपर दबाये हुए रोग तीव्र रूपमें प्रकट होने लगे। उसको सूजाक भी था जो कई बार दबाया जा चुका था। यह दो सप्ताहमें ही बिल्कुल अच्छा हो गया। नियमित रूपसे उपचार चलाते रहनेपर एक सालमें वह पूर्णतः नीरोग हो गया।

## दांतों और अस्थियोंका क्षय

इस रोगके बहुसंख्यक रोगी मेरी चिकित्सासे अच्छे हो चुके हैं। लगभग सभी रोगियोंको बाल्यावस्थामें अस्थिविकृति (रिकेट) थी जो परवर्ती रोग क्षय—का पूर्व लक्षण है। शैशवावस्थामें ही उनकी हड्डियां नरम, क्षयशील और आसानीसे टूट जानेवाली थीं। युवावस्थामें प्रवेश करनेपर या इसके कुछ पूर्व ही क्षय प्रकट हुआ—हाथ-पैरकी हड्डियां पूययुक्त होकर स्पंजकी तरह फूलने लगीं और संधियोंका भी आकार बढ़ गया। कुछके हाथ या पैर काटे जा चुके थे और चिकित्सकोंने रोग असाध्य कहकर जवाब दे दिया था। मेरा उपचार शुरू करनेपर रोगका परावर्तन आरंभ हो गया, पर कटे हुए अंगोंके संबंधमें लाचारी थी, उनको

पूर्वरूप प्रदान करना संभव नहीं था। मेरी समझमें शस्त्रोंका प्रयोग आरोग्यलाभका सबसे निकृष्ट उपाय है। इससे कभी कोई रोग या उसका कारण दूर नहीं होता। रोग तो तभी दूर होता है जब वह आनेवाले मार्गसे परावर्तित कर दिया जाय।

एक लड़केके पैर घुटनेतक पूयमय हो गये थे। डाक्टरोंने उन्हें कटवाकर अलग कर देनेकी राय दी, पर मेरे स्नानों और अनुत्तेजक आहारसे चार सप्ताहमें ही घाव भरने और चमड़ा आने लगा। छह मासमें उसके पैर अच्छे हो गये, सिर्फ दो-तीन छोटे-छोटे जख्म रह गये जो दो मासमें अच्छे हुए। उसका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो गया और मुखपर मुर्दनीकी जगह जीवन और उत्साह झलक मारने लगा। एक और लड़केके घुटनोंमें क्षय आरंभ हो गया था और उसे भी डाक्टरोंने पैर कटवा डालनेकी राय दी थी। नौ मासमें उसका विजातीय द्रव्य पैरोंसे हटाकर उसके मूल-स्थान—उदर—में पहुंचाया गया जहांसे वह जांघके एक फोड़ेसे निकलकर बाहर हुआ और लड़का बिल्कुल चंगा हो गया।

## दमा

पैंसठ वर्षकी एक स्त्री दमेसे इस कदर परेशान थी कि उसके चिकित्सकोंने जिनकी दवाओंसे उसकी हालत, विशेषकर पाचनशक्ति बहुत खराब हो गयी थी, अंतिम उपायके रूपमें उसे दक्षिणी प्रान्तमें रहनेकी राय दी। उनके पास इस बढ़े हुए दमेको अच्छा करनेका कोई उपाय नहीं रह गया था। सांस लेनेमें उसे इतना कष्ट होता कि वह दस कदम भी नहीं चल सकती थी। यह तो सभी लोग जानते हैं कि उष्णतर स्थानमें जानेके लिए कहनेका अर्थ चिकित्सकका यह कहना होता है कि 'आपके लिए अब हमारे पास कोई उपाय नहीं है; कोशिश कर देखिए, शायद प्रकृति आपकी कुछ सहायता कर दे।' उसके शरीरमें विजातीय द्रव्यका ऊपरसे दबाव अधिक था। मेरे उपचारसे कुछ ही दिनोंमें दबाव कम पड़ गया और पाचन भी सुधर गया। पसीनेके रूपमें विजातीय द्रव्य काफी निकलता रहा। वह ठंढ लानेवाले स्नान बराबर

और कभी-कभी वाष्पस्नान भी करती थी। कुछ ही दिनोंमें उसके रोग-का परावर्तन हो गया। आरोग्यलाभ करते समय वे सभी लक्षण प्रकट होते रहे जो रोगकी प्रगतिके समय हो चुके थे। विजातीय द्रव्यके बाहर हो जानेपर वह तीन मासमें ही नीरोग हो गयी।

साठ वर्षके एक सज्जनको कई वर्षोंसे दमा था और उनके चिकित्स-कोंने उन्हें जवाब दे दिया था। दवा खाते-खाते वे बिल्कुल निःशक्त हो गये थे। उपचारके आरंभिक कालमें ही स्नानोंसे उनको आराम मालूम होने लगा, और चूंकि यह आराम स्नान करते समय या उसके थोड़ी देर बादतक ही मालूम होता था इसलिए वे दिनमें कई बार, जितनी बार मैंने कहा था उससे कहीं ज्यादा, स्नान करने लगे। खांसीसे उनको नींद नहीं आती थी इसलिए वे रातमें भी आधे घंटेका स्नान करते और एक घंटेतक, जबतक ताप बढ़नेके कारण खांसी परेशान न करने लगती, आरामसे सोते। प्रत्येक स्नानसे उनकी शक्ति बढ़ जाती जिससे खांसीके जरिये काफी गंदगी बाहर निकला करती और यही उनको आराम मिलनेका कारण होता। हर महीने उनकी शक्ति बढ़ती गयी और कुछ ही महीनोंमें उनके मृतवत् शरीरमें जान आ गयी। एक ही वर्षकी चिकि-त्सासे वे पूर्णतः नीरोग हो गये और आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि उनकी गंजी खोपड़ीपर बाल भी निकल आये जो बुढ़ापेके कारण सफ़ेद थे।

## वृक्‌रोग (ल्युपस)

मेरी उपचार-पद्धतिसे इस रोगके अनगिनत रोगियोंके नीरोग होनेसे यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है कि इस रोगके संबंधमें भी मेरा रोगोंकी एकतावाला सिद्धान्त सत्य है। इस रोगका एक उदाहरण दे रहा हूं जो बहुत दिलचस्प है।

एकतालीस वर्षकी एक महिला इस रोगसे आक्रांत थी। जीवनके दूसरे वर्षमें टीका लगनेके पूर्वतक वह पूर्णतः स्वस्थ थी; उसी समयसे उसका कष्ट आरंभ हुआ। टीका लगनेपर उसकी त्वचाका स्फोट आरंभ

# यौन रोग क्यों और कैसे होते हैं ?

संकोच छोड़िए, झूठी लज्जाको दूर भगाइए; क्योंकि ये मनुष्यको बुरी तरह धोखा देनेवाले पर्देमात्र हैं। ये ऐसे पर्दे हैं जिनके पीछे, दृष्टिसे परे, बुराई अपने सारे घृणित भ्रष्टाचारोंके साथ अंकुरित और पल्लवित होती है जो ज्ञान और व्यवहारबुद्धिके प्रकाशमें मुरझाकर अवश्य नष्ट हो जायगी। अगर मानवजातिके गुप्त रोगोंका उल्लेख करना है तो खुल्लमखुल्ला और बिना छिपाये करना चाहिए। यौन रोगोंसे होनेवाली बुराइयां इतनी व्यापक और अधिक हैं कि अगर मैं उनके संबंधमें मौन रह जाऊं तो यह एक पाप ही होगा, क्योंकि मुझे अपनी पद्धतिसे इन रोगोंके उपचारमें पूरी-पूरी सफलता प्राप्त हुई है। इन रोगोंके स्वरूपके संबंधमें जो अज्ञान फैला हुआ है उसके और विशेषकर औषधोपचारके कारण लोगोंकी बहुत अधिक दुर्दशा हो रही है सिर्फ इस कारण इस संबंधमें खुल्लमखुल्ला कहना आवश्यक हो गया है। यौन रोग पहलेसे अब बहुत बढ़ गये हैं, विशेषतः उपदंश, जिसके हर साल लाखों आदमी शिकार हुआ करते हैं, सबसे अधिक दुर्दशाका करण होता है।

प्राकृतिक पद्धतिके अलावा और जो पद्धतियां उपदंशके उपचारमें बरती जाती हैं वे सब बेकार साबित होती हैं। अधिक-से-अधिक यही होता है कि पारा या इस तरहकी और कोई चीज शरीरमें लगानेपर रोग कुछ दिनोंके लिए अंतर्लीन हो जाता है, बाहर नहीं दिखायी देता जिसे दुर्भाग्यवश "आरोग्यलाभ" कहा जाता है और बेचारा रोगी भी ऐसा ही समझता है। यही बात अवर्णनीय अपकारका कारण हुआ करती है; क्योंकि बहुत-से रोगी चिकित्सकके यह कह देनेपर कि अब रोग नहीं रहा, विवाह कर लेते है; पर विवाहजन्य दुष्परिणामेंसे शीघ्र ही उनको पता चल जाता है कि उन्हें कैसा धोखा दिया गया है। शरीरमें अदृश्य

रूपमें वर्तमान उपदंश रोगवाले पुरुषसे सहवासके कारण पत्नीका स्वास्थ्य और जीवन खतरेमें पड़ जाता है। यौनसंबंधमें अभावपूर्तिके तौरपर दोनोंमें परस्पर कुछ अंशमें आदान-प्रदान होता है। अगर स्त्रीका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं है तो अंतर्लीन उपदंश शीघ्र ही उसके शरीरमें पहुंच जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह किसी-न-किसी रोगका शिकार हो जाती है। इस विवाहसे उत्पन्न बच्चे हमेशा अयोग्य रहते हैं, उनका उचित विकास कभी नहीं हो पाता। इसी कारण मैं उपदंशकी अंतर्लीन अवस्थाको तीव्र अवस्थाकी अपेक्षा अधिक खतरनाक मानता हूँ; क्योंकि तीव्र अवस्थामें रोगीके शरीरपर ऐसे चिह्न वर्तमान होते हैं जो वास्तविक स्थितिका पूरा पता दे देते हैं।

औषधोपचारक उपदंशके अंतर्लीन अवस्थामें होनेकी बात स्वीकार तो करते हैं, पर इसका निश्चय वे तब कर पाते हैं जब रोग लगातार कुछ कालतक अदृश्य रूपमें रहनेपर पुनः तीव्र रूपमें प्रकट होता है; इनकार करनेकी स्थितिमें न होनेपर लाचार होकर ही वे स्वीकार करते हैं। अगर स्थितिसे यह बात स्पष्ट न हो जाती तो औषध-विज्ञान रोगकी अंतर्लीन अवस्था माननेको कभी तैयार न होता।

अगर उपदंश पुनः तीव्र रूपमें प्रकट न हो तो भी आकृति-विज्ञानके सहारे उसके अंतर्लीन रूपका फौरन पता चल जाता है। इसी प्रकार इसके सहारे यौन रोगकी प्रवृत्तिका भी बहुत पहले ही निश्चय कर उससे छुटकारा दिलाया जा सकता है। मैं यौन रोगों—प्रदर, सूजाक, उपदंश आदि—की तफसीलमें उतरना नहीं चाहता। उनके विभिन्न नामोंसे हम लोगोंको कोई खास मतलब नहीं; क्योंकि सबका एक ही सामान्य कारण है। उनका रूपगत अंतर व्यक्तिविशेषकी रोगप्रवृत्तिकी मात्रा यानी विजातीय द्रव्यकी स्थितिपर निर्भर है।

प्रकृतिने मैथुन और मलत्यागको जो एक इंद्रियसे अंशतः संबद्ध किया है वह कोई संयोगकी नहीं है। शरीर मलको इन्हीं मार्गोंकी ओर ले जानेका प्रयत्न करता है। इस कारण इस भागमें विजातीय द्रव्य और

जगहोंसे अधिक जमा पाया जाता है। स्त्रियोंमें यह बात स्पष्ट रूपमें देखी जा सकती है, इसलिए यौन-समागमके लिहाजसे यह बड़े महत्त्वकी है। त्वचामें शोषणकी शक्ति होनेके कारण इस तेज स्रावका लेप आदिकी तरह शरीरमें पहुंच जाना अनिवार्य है। इस प्रकार स्त्रीमें वर्तमान विकृत द्रव्य पुरुषमें और पुरुषमेंका स्त्रीमें पहुंच जाया करता है। अगर पुरुषमें विजातीय द्रव्यका दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहा तो वह स्त्रीके शरीरमें मिलकर उसे पहलेकी अपेक्षा अधिक रोगी बना देगा।

एक बात और है जिसकी कुछ विस्तारके साथ व्याख्या करना आवश्यक है। यौनप्रवृत्ति एक ऐसा विषय है जो है तो सार्वजनिक, पर संतोषजनक रूपमें उसकी व्याख्या नहीं की गयी है, इसलिए बहुत कुछ अस्पष्ट ही बना हुआ है। औषधविज्ञानसे इस प्रवृत्तिपर विशेष प्रकाश नही पड़ता, इनकी साधारण अवस्थापर उससे भी कम और इसे असाधारण रूप देनेवाले कारणोंपर तो और भी कम प्रकाश पड़ता है; फिर भी पाठ्यग्रंथोंमें कहा गया है कि शरीरमें आत्मरक्षणके बाद प्रजननकी प्रवृत्ति ही सबसे अधिक बलवती होती है। जीवनमें महत्त्वकी दृष्टिसे द्वितीय स्थान ग्रहण करनेवाले विषयको अप्राकृतिक, भोंड़ी और कुत्सित वस्तुके समान घृणित समझकर उसपर विचार न करनेका कारण समझमें नहीं आता। अन्य प्रवृत्तियोंकी तरह ही यौनप्रवृत्ति भी शरीरमें विजातीय द्रव्यके अभाव या आधिक्यके कारण साधारण और असाधारण हुआ करती है। यौन प्रवृत्तिके रूपसे स्वास्थ्यकी अवस्था विशेषकर रोगकी सुप्त अवस्थाका और अंगोंपर रहन-सहनके तरीकेके पड़नेलाले प्रभावका ठीक-ठीक पता चल जाता है। विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जानेपर ही साधारण अवस्था असाधारण रूपमें परिणत होती है जिसके परिणामस्वरूप नाड़ियां उत्तेजित हो जाती हैं। यह दबाव यौनेन्द्रियको भी प्रभावित करता है जिससे यौनप्रवृत्ति बढ़ जाती है और इसके साथ ही पुंस्त्वकी मात्रा क्रमशः कम पड़ती जाती है, साधारण यौनप्रवृत्तिमें क्षुब्ध करनेवाली कामुकता या विचार नहीं आता, पर प्रवृत्तिका यह साधारण रूप स्वस्थ

व्यक्तियोंमें ही रहता है और आहार अनुत्तेजक और रहन-सहन प्राकृतिक होनेपर ही कायम रह सकता है। शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जाने या रोगकी अंतर्लीन या जीर्ण अवस्था आरंभ होनेपर ही प्रवृत्ति असाधारण हुआ करती है।

जिस व्यक्तिका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा होगा वही यौन रोगोंका शिकार होगा। इस प्रकार सूजाक, उपदंश आदिके विषके शरीरमें पहुंचनेपर एकमें रोगका संक्रमण होने और दूसरेमें न होनेका कारण स्पष्ट हो जाता है। मुझे ऐसी कई घटनाओंका पता है जिनमें खतरेका रूप समान रहनेपर भी एकमें तो रोगका संक्रमण हो गया, पर दूसरेपर कोई असर नहीं हुआ। मुझे एक ऐसी स्त्रीका पता है जिसका संबंध एक ही पुरुषके साथ बहुत दिनोंतक रहा और उस पुरुषका भी किसी अन्य स्त्रीसे संबंध नहीं था। उस पुरुषके अन्यत्र चले जानेपर स्त्रीका संबंध एक अन्य पुरुषसे हुआ। इन दोनों पुरुषोंमें कोई भी रुग्ण नहीं था और किसी अन्य स्त्रीसे संबंध भी नहीं था, फिर भी दूसरा पुरुष कुछ ही दिनोंमें उपदंशका शिकार हो गया और तब भी स्त्रीपर इसका कोई असर नहीं हुआ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक व्यक्तिकी यौनेंद्रियमें एकत्र विजातीय द्रव्य सहवास होनेपर दूसरेमें सीधे पहुंच जाता है और मैदेके घोलमें खमीर मिलाये जानेकी तरह दूसरे व्यक्तिके द्रव्यपर असरकर खमीर पैदा कर देता है, विशेषकर उस हालतमें जब परस्पर आदान-प्रदानकी क्रियाद्वारा समीकरण होनेपर शरीरपर शांति और बल प्रदान करनेवाला असर होता है। इस क्रियासे शरीरकी जीवशक्ति इस कदर बढ़ जाती है कि वह उत्तेजित होकर सूजाक, उपदंश आदि यौन रोगोंके रूपमें उभारकी अवस्था (क्रायसिस) उत्पन्न कर एकत्र विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगती है। इन बातोंसे प्रायः होनेवाली उन घटनाओंपर भी प्रकाश पड़ता है जिनमें कोई पुरुष अपनी पत्नीके

साथ बहुत दिनोंतक यौनसंबंध रखनेके अनंतर दूसरी स्वस्थ स्त्रीके साथ संयोगवश संपर्क हो जानेपर उपदंशसे आक्रांत हो जाता है। आदान-प्रदानकी क्रियाद्वारा पति-पत्नी दोनोंके शरीरकी अभावपूर्ति हो जानेके कारण सहवासका उनमेंसे किसीके शरीरपर कोई असर नहीं हो रहा था, पर इस नये सहवासमें समीकरणकी क्रिया नये सिरेसे आवश्यक हुई जिसका परिणाम रोगके रूपमें प्रकट हुआ।

मैंने इस घटनाओंका उल्लेख सिर्फ यह दिखानेके लिए किया है कि किसी प्रकार यौन रोगोंकी उत्पत्ति हुआ करती है और संक्रामक द्रव्यके दूसरे शरीरमें पहुंचनेपर उसकी कैसी प्रतिक्रिया होती है। मैं किसी भी रूपमें अवैध संबंधके पक्षमें नहीं हूं, पर यहां मुझे रोग, उसके स्वरूप, कारण और उपचारपर विचार करना है इसलिए उपर्युक्त उदाहरण देने पड़े हैं जो दुर्भाग्यवश व्यापक रूपमें पाये जाते हैं।

# यौन रोगोंका स्वरूप और उपचार

यौन रोगके संबंधमें पहले जो कुछ कहा गया उससे हम इसी नतीजेपर पहुंचते हैं कि ये रोग आरोग्यलाभके लिए शरीरद्वारा उत्पन्न आरोग्यप्रद उभारकी अवस्थाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इसलिए स्वास्थ्यलाभके निमित्त रोगके मूल कारण—शरीरमें एकत्र विजातीय द्रव्य—से छुटकारा पाना आवश्यक है और तब इस कारणसे उत्पन्न सारी बुराइयां क्रमशः दूर होती जायेंगी। औषधोपचारपद्धतिकी भूल बहुत बड़ी बुराई करनेवाली सिद्ध हो रही है। औषधोपचारक समझते हैं कि हम इंजेक्शन और दवाओं (खतरनाक जहर)—यथा विभिन्न रूपोंमें पारा, आयोडिन, आयोडायड आव पोटैशियम, आयडोफार्म आदि—के जरिये रोगको दूर कर देंगे पर वस्तुतः वे रोगसे मुक्ति पानेके शरीरके प्रयत्नको दबा भर देते हैं। स्वाभावतः इसका प्रभाव शरीरकी शक्तिके लिए, जो इस प्रकारका उपचार न होनेपर आरोग्यलाभके लिए उभारकी अवस्था प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सकती थी, बहुत बुरा होता है। शरीरमें विषके प्रविष्ट होनेपर शरीरकी सारी शक्ति अंगोंकी रक्षा करनेके लिए विषको निष्क्रिय बनानेके प्रयत्नमें लग जाती और शरीरको रोगमुक्त करनेके कार्यसे विरत हो जाती है।

औषधोपचारक जिसे आरोग्य कहते हैं वह रोगकी प्राकृतिक अवस्थाकी अपेक्षा शरीरको कहीं अधिक नुकसान पहुंचानेवाला होता है; पर इसका वास्तविक रूप छिपा ही रहता है; क्योंकि यह कष्टहीन, भ्रामक, पर अंतर्लीन या जीर्ण अवस्थामें पहुंच जानेपर प्रलोभन और कपटका जामा पहन लेता है। इस हालतमें पूर्ववर्ती तीव्र रोगका कोई लक्षण विद्यमान न होनेके कारण लोग दुर्भाग्यवश इसे वास्तविक आरोग्यलाभ मान लेते हैं। अकाट्य प्रमाणोंका समर्थन प्राप्त होनेके कारण इस प्रकारकी भयंकर भूल करनेवाली पद्धतिपर मेरा यह दोषारोप सर्वथा न्याय्य है।

दवाओंके जरिये रोगको दबानेसे स्थितिमें वस्तुतः कोई सुधार नहीं होता, केवल आरोग्यका नकली रूप नजर आता है जिसमें रोग बढ़कर और हानिकारक हो जाता है। अगर हम किसी ऐसे व्यक्तिकी जीव-शक्ति, जिसके अंग दवाओंसे निर्बल कर दिये गये हैं, लौटानेमें (जिसमें वर्षों भी लग जा सकते हैं)—सफल हो जायें तो जो लक्षण दबा दिये गये हैं वे कुछ नरम रूपमें कुछ कालके लिए पुनः प्रकट हो सकते हैं। मैंने अपने उपचारमें यह बात अनगिनत बार स्पष्ट रूपमें देखी भी है। मेरे स्नानोंके प्रत्युत्तेजक प्रभावसे इन रोगोंकी ऐसी रोकथाम हो जाती है कि उनका भयंकर रूप बिलकुल जाता रहता है। आरोग्य प्रदान करनेवाली उभारकी अवस्थासे किसीको डरनेकी जरूरत नहीं है। यह अवस्था शरीरमें विजातीय द्रव्यके फैलाव और औषधोपचारका स्वाभाविक परिणाम है।

मेरी पद्धतिसे सारे यौन रोगों, यहांतक कि उपदंशकी भी, जिससे लोग बहुत डरते हैं, भयंकरता जाती रहती है। मेरा दावा है कि मेरी पद्धतिसे यह रोग, जो औषधोपचारसे कभी अच्छा नहीं हो सकता और रोगोंकी तरह ही जड़-मूलसे गायब हो जायगा और इसका ऐसा कोई भी अनिष्टकर प्रभाव नहीं होगा जिससे रोगीकी भावी संततिको डरनेकी जरूरत पड़े। मेरा कथन अक्षरशः सत्य है, इसमें जरा भी अतिरंजना नहीं है। साथ ही मैं यह भी कहनेके लिए तैयार नहीं हूं कि उपदंशका प्रत्येक रोगी अच्छा हो ही जायगा। केवल ऐसे हों रोगी नीरोग हो सकते हैं जिनका पाचन सुधारके योग्य होगा। उपचार बहुत दिनोंतक चलनेकी हालतमें भी जीवशक्ति और विजातीय द्रव्यकी स्थितिके अनुसार आरोग्यकी संभावना स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होने लगती है।

यौन रोगका प्रकट होना इस बातका सूचक है कि शरीरमें एकत्र विजातीय द्रव्यकी मात्रा बहुत अधिक है या रोग प्रक्षिप्त रूपमें था। अगर यह अच्छा न किया जाय तो दमा, फुफ्फुसीय विकार, क्षय, कर्कटिका, हृद्रोग, शोथ, संधिवात आदि रोगोंका आरंभिक रूप होता है। अगर रोग

रोगीमें प्रकट न भी हो तो इस मिथ्या औषधोपचारका दुष्परिणाम रोगी-की संतानमें अवश्य देख पड़ता है। बहुत-सी निर्दोष माताएं अपने बच्चोंमें फुप्फुसीय विकार, क्षय, गंडमाला, अस्थिविकृति आदि रोग प्रकट होते देखकर इनके कारणका अनुमान भी नहीं कर पातीं; क्योंकि रोगके वास्तविक कारणका उन्हें जरा भी ज्ञान नहीं होता और इसमें वे अपना भी कोई दोष नहीं पातीं। उन्हें अपने पतिके यौन रोगों और संतानपर पड़े हुए उनके प्रभावका जरा भी पता नहीं होता। बच्चोंके प्रति मां-बापका यह बहुत बड़ा दुष्कर्म है। अस्वस्थ और निर्बल संतान ऐसा आईना है जिसमें हमारे सिद्धांतोंसे परिचित व्यक्तियोंको मां-बापके प्रजननकालिक स्वास्थ्यका रूप स्पष्ट रूपसे प्रतिबिंबित देख पड़ता है।

प्रदर और सूजाक-जैसे आम तौरसे होनेवाले यौन रोगोंकी अवस्था-का परीक्षण करनेपर हमारे विजातीय द्रव्यसंबंधी सिद्धांतको एक नया समर्थन प्राप्त होता है। इसमें प्रदाह होनेके साथ-साथ शरीरसे विकृत या विजातीय द्रव्य पूयके रूपमें बाहर निकलता है। खमीरकी उत्पत्ति अर्थात् ज्वरीय क्रियासे अंदरके अंग भी साथ ही आक्रांत होकर उत्तेजित और प्रदाहित हो जाते हैं, पर मनुष्यको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि वह किस प्रकार इस प्रक्रियाको अंगके लिए अहानिकर बनाये। इस स्थितिमें यह प्रक्रिया अपने असली मानेमें आरोग्यप्रद उभारकी अवस्था होगी। विजातीय द्रव्य जितनी अधिक मात्रामें बाहर निकलेगा उतना ही अधिक शरीरपर इस सफाईका असर होगा। ध्यान देनेका मुख्य विषय स्रावको यथासंभव कष्टरहित और शरीरके लिए कम-से-कम अशांत करनेवाला बनाना है, पर साथ ही शरीरके किसी कार्यके सम्यक् रुपमें होनेमें किसी तरहका हस्तक्षेप भी नहीं करना है। विशेष अवस्थाका खयाल रखते हुए मेरे स्नानोंसे संतोषजनक फल प्राप्त किया जा सकता है। आरोग्य-लाभमें लगनेवाला समय स्वभावतः विजातीय द्रव्यकी मात्रा-के अनुपातमें ही होगा।

जरा उन दवाओंकी ओर ध्यान दीजिए जिनका प्रयोग यौन रोगोंमें

किया जाता है। औषधोपचारक सीसे, पारे, जस्ते और आयडोफार्मका क्षयकारक घोल इंजेक्शन या पिचकारीद्वारा मूत्रनलिका या योनिमें प्रविष्ट कर शरीरके लिए हितकर सिद्ध होनेवाले उसके स्रावकारी प्रयत्न-को बलात् रोक देते हैं। दवाओंका रूप ही उनके प्रयत्नका भ्रष्ट रूप प्रमाणित करनेके लिए काफी है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि अब-तक किसीके मनमें यह प्रश्न नहीं उठा कि दवाके जरिये स्राव बंद कर देनेपर यह पूय कहां जाता है। बिना किसी सुनिश्चित कारणके प्रकृति कोई काम नहीं किया करती। प्राकृतिक प्रक्रियाओंको प्राकृतिक उपा-योंसे ही सहायता दी जा सकती है, जीवनकी अवस्थाके प्रतिकूल, उलटी दिशामें जानेवाली दवाओंसे नहीं।

औषधविज्ञानकी इस भयंकर भूलके ही परिणामस्वरूप आज सर्वत्र पागलखानों, रुग्णालयों तथा स्वास्थ्यगृहोंकी बाढ़-सी नजर आ रही है। अगर चिकित्सकोंकी दवाएं वस्तुतः लाभदायक होतीं तो इन संस्थाओं-की संख्यामें वृद्धि होनेके बजाय दिनोंदिन कमी ही होती देख पड़ती।

इस विषयको समाप्त करनेके पूर्व मैं दो रोगियोंके उपचारका उल्लेख करना चाहूंगा। कुछ दिन पहले पचास वर्षके एक व्यक्तिने भीषण हृद्रोगके संबंधमें मेरी राय ली। मेरी पद्धतिसे उपचार करनेपर एक ही पक्षके बाद उसका पूर्ववर्ती वृक्क-विकार प्रकट हुआ। इसके दूर होनेपर सूजाकका आक्रमण हुआ जो उसे अठारह साल पहले हुआ था। इन दोनों रोगोंका रूप पहले-जैसा उग्र नहीं था। एक ही सप्ताहमें सूजाक भी अच्छा हो गया और रोगीका स्वास्थ्य आश्चर्यजनक रूपमें सुधरने लगा और हृद्रोग तो जड़-मूलसे गायब हो ही गया। उपचार चलते समय रोगीने मुझे बतलाया कि पहले उसे सूजाक हुआ और दो प्राध्यापकोंके औषधोपचारका उसपर अच्छा प्रभाव हुआ—सूजाकके सारे लक्षण जाते रहे। कुछ वर्षोंके बाद सूजाक फिर उभरा, पर दवा-ओंके जरिये उससे छुटकारा मिल गया। दो वर्ष बाद उसे वृक्क-विकार हुआ जिससे उसे बड़ा कष्ट हुआ। आठ प्रसिद्ध चिकित्सकोंकी रायसे

उसने दवाओंके जोरसे इसे ऐसा दबाया कि सारे भयोत्पादक लक्षण जाते रहे; पर कुछ ही दिन बाद हृद्रोगका आरंभ हुआ जिसपर किसी दवाका जोर नहीं चला और शोथ होनेकी आशंका होने लगी। मैंने उसे विश्वास दिलाया कि सूजाक अच्छा नहीं हुआ, शरीरके अंदर दबा भर दिया गया और बादमें होनेवाले वृक्क-विकारकी भी ठीक वही हालत हुई। वही हृद्रोगका कारण बन गया और यदि मेरा उपचार न होता तो उसकी चरम परिणति शोथके रूपमें होती। मेरी पद्धतिसे आरोग्य-लाभ करनेपर उसे इन रोगोंमें परस्पर संबंध होनेका पूरा-पूरा विश्वास हो गया।

अब उपदंशके एक रोगीका उदाहरण लीजिए। श्री············ने, जिनकी अवस्था सैंतालीस वर्षकी थी, उपदंशके संबंधमें मेरी राय ली जिससे वे दस वर्षोंसे पीड़ित थे। उन्होंने बतलाया कि मैंने सुप्रसिद्ध चिकित्सकोंकी रायके मुताबिक रोगका चार बार उपचार किया जिसमें पारेका लेप प्रयोगमें लाया गया था। उन्होंने पोटैशियम आयोडायडका भी सेवन किया था। इस प्रकारके उपचारोंके बावजूद उपदंशके लक्षण बार-बार प्रकट होते रहे और मुंह तथा पैरोंमें बराबर घाव होते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि एलोपैथीके प्रति उनका सारा विश्वास जाता रहा। एक विशेष कारण यह भी था कि पारेके इस्तेमालके बाद उनका स्वास्थ्य पहले-जैसा नहीं रह गया, उनके मस्तिष्कपर दबाव या भार मालूम होने लगा जिससे उनकी स्मरण-शक्ति कुछ क्षीण हो गयी। आकृति-विज्ञानके सहारे मैंने देखा कि उनके शरीरमें विजातीय द्रव्यकी मात्रा बहुत अधिक है और इसके अलावा दवाओंके विषके चिह्न भी प्रकट हो रहे हैं। यह बिलकुल स्पष्ट था कि पारेके प्रयोगद्वारा उपदंश प्रक्षिप्त कर दिया गया है। मैंने दो-तीन बार स्नान चलाने और सादा प्राकृतिक आहार ग्रहण करनेकी राय दी। परिणाम अनुकूल हुआ और छह मासमें ही उनकी हालत बिलकुल बदल गयी। उनका पाचन बहुत अच्छा हो गया और चेहरेपर स्वास्थ्य और ताजगीकी झलक दौड़ आयी।

कारण दूर हो जानेपर उपदंश भी पूर्णतः चला गया और वह फिर कभी नहीं आयेगा।

## ध्वजभंग या नपुंसकता

नपुंसकतासे बढ़कर वर्तमान पीढ़ीके पतनका परिचायक और कोई विषय नहीं है। औषधविज्ञान इस रोगकी कोई दवा अबतक नहीं निकाल सका है। इसके वास्तविक रूपसे परिचित न होनेके कारण इस रोगके संबंधमें वह बिलकुल निरुपाय या असमर्थ बना हुआ है। औषधोपचारकोंको इस बातका पता नहीं है कि शरीरमें विजातीय द्रव्यका अधिक मात्रामें एकत्र होना ही रुग्णावस्थाका कारण हुआ करता है। अगर शरीरको विजातीय द्रव्यसे मुक्त किया जा सके तो नपुंसकता भी दूर हो जा सकती है। इस प्रकारके बहुत-से रोगी नीरोग किये जा चुके हैं और यदि दृढ़ इच्छाशक्ति और समझदारीके साथ मेरा उपचार चलाया जाय तो सफलता अवश्य मिलेगी। कारण दूर कर दिये जानेपर यौन अंगोंमें आयी हुई हर तरहकी खराबी दूर की जा सकती है। इसी प्रकार यौन प्रवृत्ति भी साधारण अवस्थामें लायी जा सकती है जिससे रोगमुक्त व्यक्ति ऐसी अवस्थामें पहुँच जाता है कि स्वाभाविक यौन-जीवन व्यतीत कर सके। हम प्रायः देखते हैं कि ऊंचे-से-ऊंचे नैतिक सिद्धांत भी हस्तमैथुन-जैसी अस्वाभाविक यौनप्रवृत्तिकी अधिकताको रोकनेमें असमर्थ होते हैं। स्त्रियोंकी क्लीबताको हम लोग वंध्यात्वके रूपमें जानते हैं। वंध्यात्व यौन अंगोंकी बुरी बनावट या असामान्यताके ही कारण नहीं होता, अंगोंकी स्पंदन-हीनताके कारण भी हो सकता है।

पुरुषोंकी यौन प्रवृत्ति स्त्रियोंकी प्रवृत्तिसे बिलकुल भिन्न हुआ करती है, इसलिए पुरुषोंकी क्लीबताका रूप भी भिन्न ही हुआ करता है। इसके होनेसे वर्षों पूर्व ही प्रबल और असाधारण रूपमें बढ़ी हुई यौन इच्छाके रूपमें, जो जीर्ण रोगका परिणाम है, इसका निश्चित लक्षण देखा जा सकता है। बच्चों और नवयुवकोंमें जननेंद्रियके

जीर्ण प्रदाहके कारण बड़ी उत्तेजना होती है और यही व्यापक रूपमें फैली हुई बुराई—हस्तमैथुन—का कारण है। प्रौढ़ोंमें हम इस उत्तेजनाको अस्वाभाविक रूपमें बढ़ी हुई मैथुनेच्छाके रूपमें देखते हैं जिससे मन न्यूनाधिक रूपमें प्राकृतिक कामुकतापूर्ण विचारोंमें संलग्न रहता है। इसके कारण युवकोंमें स्त्रियोंके सामने झेंपनेकी प्रवृत्ति बढ़ने लगती है जो भयके रूपमें परिणत होकर नपुंसकता ला देती है। आज बहुत-से प्रथित लोगोंको जो हम अविवाहित पाते हैं उसका कारण स्त्रियोंके सामने झेंपनेकी प्रवृत्ति ही है जो क्लीबताका परिणाम है। बहुतेरे व्यक्ति अपनी युवावस्थामें ही मैथुनके अयोग्य हो जाते हैं और इसका कारण यही होता है कि वे हस्तमैथुनके कारण नामर्द हो गये होते हैं। क्या अधिकांश आत्महत्याएं या आत्म-हत्याके प्रयत्न इस अवस्थाके परिणाम नहीं हैं ?

कुछ दिन पहले तेईस वर्षका एक नवयुवक, जो एक बहुत बड़ी रियासतका उत्तराधिकारी है, मुझसे मिला। वह बारह वर्षकी ही अवस्थासे हस्तमैथुन करता रहा था और अब इस लतसे अपना पिंड छुड़ाना चहता था। दिन-रात उसके दिमागमें यही धुन बनी रहती थी। वह अपनी शक्तिभर इस प्रवृत्तिसे संघर्ष करता था, पर पराजित होकर अपनेको इस दुष्कर्मके हवाले कर दिया करता था। उसने बहुतेरे उपाय किये, पर कोई लाभ नहीं हुआ। उसकी इच्छाशक्ति इसे रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकी। कभी-कभी कुछ महीनोंतक इसे रोकनेके प्रयत्नमें वह सफल भी हो जाता, पर फिर इस प्रवृत्तिसे अभिभूत होकर इस व्यसनमें और भी गर्क हो जाता। आंतरिक असंतोषकी भावनासे उसका हृदय भर गया था, वह अपनेको दुनियामें बिलकुल बेकार समझता था और आत्महत्याका विचार लिये घूमा करता था। उसके मां-बापने उसका ब्याह करना चाहा, पर नामर्दीके कारण शादीकी ओरसे उसका मन बिलकुल फिर गया था। अंतिम उपायके रूपमें उसने मेरी पद्धतिका

सहारा लेने और इससे लाभ न होनेकी हालतमें विवाह न करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया।

आकृतिविज्ञानद्वारा उसकी परीक्षा करनेपर यह जान पड़ा कि उसकी नामर्दीका कारण मंदाग्नि है जिससे छुटकारा पाना पहला काम था। अवस्था नयी होनेके कारण शरीरकी प्रतिक्रिया जल्द होनेकी आशा थी, इसलिए मैंने उसे अच्छा परिणाम होनेका आश्वासन दे दिया। उसने जी-जानसे मेरी पद्धतिका अनुसरण किया और कुछ ही महीनोंमें उसकी हालत बहुत सुधर गयी। अनुत्तेजक आहारके सहयोगसे मेरे स्नान, जो रोगके मूल कारणपर आघात करते हैं, बहुत प्रभावकर सिद्ध हुए। लगभग तेरह मासमें नपुंसकता और हस्तमैथुनकी लत—दोनों, और रोगोंकी ही तरह, आसानीसे दूर हो गयी।

# मधुमेह, अश्मरी, परिसर्प, कामला तथा वृक्क, मूत्राशय, यकृत आदिके रोग और उनका उपचार

इतने रोगोंको, जिसमें साधारण व्यक्तिको आरंभमें कोई सामान्य बात नहीं देख पड़ेगी, एक श्रेणीमें रखना बिलकुल बेतुकी बात जान पड़ेगी। प्रचलित औषधोपचार-पद्धतिके चिकित्सकोंकी दृष्टिमें ये सभी अलग-अलग रोग हैं और सबका अलग-अलग विशेष उपचार है, पर मेरी पद्धतिके लेंससे या माध्यमसे देखनेपर सामान्य मूल कारण और घनिष्ठ पारस्परिक संबंध बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा।

इन सभी रोगोंका मूल कारण विजातीय द्रव्यका शरीरमें एकत्र होना ही है और इस स्थलपर हमें विशेष रूपसे उसके ऐसे लदावपर विचार करना है जो शरीरसे मल निकालनेका महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले अंगों—वृक्कों और त्वचा—की क्रियाको प्रभावित करता है। आमाशयमें पाचन-की क्रिया चलते समय बन नेवाली गैसके—जिसे आध्मान कहते हैं—कारणका विचार भी इसीके अंतर्गत आता है।

## मूत्रक्षय

यह गैस एक ओर तो पाचन-प्रणालीमें फैलकर और आंतोंकी कृमि-वत् आकुंचन क्रियासे सहयोग कर खाद्यको आगेकी ओर ढकेलती है और दूसरी ओर उड़ने और फैलनेवाली भापके रूपमें होनेके कारण पाचन-प्रणालीके पर्देको सीधे पारकर सारे शरीर और रक्तमें प्रवेश कर जाती है। एक उदाहरणसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायेगी। पृथ्वीकी सतहपर जल समुद्रों, झीलों, नदियों आदिके रूपमें सीमित क्षेत्रोंके अंदर

रहता है जिससे मानवशरीरकी रक्तनलिकाओंकी तरह ही पृथ्वीतलपर भी जल-प्रवाहक नलिका-संस्थान प्रस्तुत हो गया है। इन जलाशयोंके अलावा जल वाष्पके रूपमें भी पृथ्वी और वायुमंडलमें व्याप्त होता रहता है। शरीरमें पहुंचनेवाले खाद्य और पेयकी भी ठीक यही हालत होती है। प्रत्यक्षरूपमें तो वे विशेष भागों और अंगोंमें ही पहुंचते हैं, पर उनका कुछ अंश वाष्पके रूपमें सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता है। यही कारण है जिससे शराब पीनेपर उसका असर जल्द ही सारे शरीर, विशेषकर मस्तिष्कपर दिखायी देने लगता है, हालां कि त्वचाकेप्र कृत रूपमें कार्य करते रहनेपर गैसका कुछ अंश पसीनेके रूपमें और सांसके जरिये भी बाहर निकल जाता है। पसीना निकलने और न निकलनेपर भी गैस बाहर निकलती रहती है। हर एक आदमीके पसीनेकी गंध भी अलग-अलग होती हैं। जीर्ण विजातीय द्रव्य घुला हो तो उसकी गंध बुरी होती है। शरीरके अंदर इस तरहकी गैस मूत्रप्रणालियों (यूरेटर) से होकर मूत्राशयमें पहुंचती हैं। इस प्रकार स्वेद और मूत्र लगभग एक ही जैसे स्राव हैं। मूत्राशयके भरनेके साथ ही पेशाब करनेकी जरूरत महसूस होती है और यदि शरीरको हानिसे बचाना है तो इसमें देर भी नहीं करनी चाहिए।

यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे यों ही चलता नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्यवश लज्जा और आजकलके रीति-रिवाज इस संबंधमें हमें जैसा कार्य करना चाहिए वैसा नहीं करने देते। ऐसी हालतमें अगर मूत्राशय और वृक्कोंमें कुछ मल, जिसे बाहर निकल जाना चाहिए था, रुका रह जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अगर हम बच्चोंको, जिनमें पदार्थोंका परिवर्तन प्रौढ़ोंकी अपेक्षा अधिक तीव्रताके साथ होता है और जीवशक्ति भी अधिक होती है, हानिकारक और शायद खतरनाक परिणामसे बचाना चाहते हैं तो उन्हें मलमूत्रके त्यागकी इच्छा पूरी करनेसे कभी नहीं रोकना चाहिए। अगर मूत्राशयसे मूत्र ठीक समयपर बाहर न निकले तो शरीरके अन्य पदार्थोंकी तरह ही उसमें परिवर्तन

जारी रहकर खमीर बनने लगेगा। मूत्राशयका ताप बढ़ जानेसे मूत्रका तरल अंश वाष्प बन जायेगा और लवरण शेष रह जायेंगे। इससे वृक्कोंका स्राव मूत्राशयमें जानेसे रुक जायगा और उसमें भी परिवर्तन होगा। अगर मूत्राशय और आंतको खाली करनेकी इच्छा अविलंब पूरी नहीं हुई तो पीछे वह कम पड़ जाती है और तब अपने इच्छानुसार मल-मूत्रको बाहर निकालना कठिन हो जाता है। इस हालतमें मूत्राशयमें जो मूत्र रहता है उसकी मात्रा कम पड़ जाती है; क्योंकि उसका कुछ अंश किसी-न-किसी रूपमें शरीरमें पुनः पहुंच जाता है—विकारकी क्रिया बराबर जारी रहनेके कारण मूत्र पुनः वाष्पमें परिणत होकर पाचन-क्रियाकी तरह सारे शरीर और रक्तमें पहुंच जाता है। वाष्प बननेकी प्रक्रियामें लवरण आदिके करण स्फटके रूपमें मूत्राशय और वृक्कोंमें रह जाते हैं जो पीछे—प्रायः सब नहीं—बाहर निकल जाते हैं। अगर खुर्द-बीनसे इन्हें देखा जाय तो अलग-अलग ये पीले रंगके होते हैं, पर एक साथ मिले होनेपर कुछ लालिमा लिये हुए-से देख पड़ते हैं। अगर मूत्रा-शयका भार विशेष रूपसे बढ़ जाय तो यही प्रकिया अश्मरीका कारण हो जाती है।

## अश्मरी (पथरी)

शरीरकी अवस्था असाधारण या अप्राकृतिक होनेपर ही अश्मरीका निर्माण होता है। वह ठीक उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार खारा पानी उबालनेपर नीचे लवरण जम जाता है। वृक्कोंमें रुका हुआ मूत्र वाष्प बन जाता है और बचे हुए करण आपसमें मिलकर स्फट-जैसे बन जाते हैं। अश्मरी बहुत छोटी होनेपर मूत्रके साथ मूत्र-प्रणालियोंसे होकर मूत्राशयमें पहुंच जाती है और इसमें कोई कष्ट भी नहीं जान पड़ता, पर अगर अश्मरीका आकार बड़ा हो गया हो तो मूत्रप्रणालियोंसे गुजरते समय वृक्कोंमें भयंकर शूल होता है—अश्मरीकी तेज और स्फट-जैसी सतह मूत्रप्रणालियोंकी कलाको क्षुब्ध और क्षत कर देती है। मूत्राशय-

में भी यही प्रक्रिया चलती है। अगर उदरमें विजातीय द्रव्य अधिक मात्रामें जमा हो जाय तो मूत्रमार्ग संकीर्ण हो जाता है और तब अश्मरीका बाहर निकलना कठिन हो जाता है। इस हालतमें अश्मरी बड़े डलेका रूप धारण कर लेती है और बराबर गतिशील रहनेके कारण गोल हो जाती है, पर उनकी बनावट स्फट-जैसी ही रहती है।

मूत्रके रुकनेपर अश्मरीका बनना कोई जरूरी नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि सारा मूत्र परिवर्तित होकर विजातीय द्रव्यके रूपमें जमा हो जाय। इस हालतमें यह व्रणग्रंथि ( नोड्यूल ) या अन्य प्रकारके रोगका रूप धारण कर सकता है। कुछ दिन पहले मैंने एक लड़केका उपचार किया था जिसका सारा शरीर मटरके दानों-जैसी व्रणग्रंथियोंसे भरा हुआ था। जुकाम होनेकी हालनमें उसे कई दिनोंतक पेशाब नहीं उतरा था। मैंने उसे बतलाया कि अगर पेशाब रुकनेके कारण ये ग्रंथियां बनी हैं तो उन्हें पुनः मूत्रके रूपमें परिवर्तित करना पड़ेगा। उपचार आरंभ करने-पर उसे कई दिनोंतक बहुत अधिक मात्रामें पेशाब होता रहा। ग्रंथियोंके एकाएक गायब हो जानेसे उसकी माताको बड़ा आश्चर्य हुआ। बच्चेमें जीवनशक्ति अधिक होनेके कारण ग्रंथियां पुनः पूर्व रूपमें परिवर्तित होकर अल्पकालमें ही बाहर निकल गयीं।

## अतिसार, कोष्ठबद्धता और मधुमेह

अतिसार और कोष्ठबद्धता भी शरीरमें विजातीय द्रव्यकी वृद्धिके ही परिणाम हैं। वही मूत्रस्राववाली हालत इनकी भी है; अंतर सिर्फ यह है कि इनमें रुकावट सीधे नहीं जान पड़ती, त्वचाके असाधारण रंग, परिसर्प, सिरदर्द, अर्बुद, अश्मरी आदिके द्वारा इनका पता चलता है। एक प्रकारसे अन्य रोगोंके आरंभिक रूप हुआ करते हैं।

मधुमेह, जो अतिसारसे बहुत कुछ मिलता है, आसानीसे पहचानमें आ जाता है। इसमें अतांरिक ज्वरके कारण जो प्रदाह होता है और जिसके कारण मधुमेहके रोगीको कष्टदायक प्यास लगती है वह कोष्ठ-

बद्धता न उत्पन्न कर या अश्मरी या अर्बुदका निर्माण न कर शरीरसे द्रव्यको तेजीसे बाहर कर देता है और रसोंको विकृतकर विभिन्न तत्त्वोंमें विभक्त कर देता है। जो मूत्र बाहर निकलता है वह विकृत, खमीरके रूपमें और मीठा होता है। अश्मरी और मधुमेह एक ही जैसे रोग हैं, केवल इनके बाह्य रूपमें अंतर होता है। इन रोगोंसे ग्रस्त लोगोंके लिए मेरे स्नान बहुत लाभदायक होते हैं। वे आंतरिक प्रदाहको दूर कर प्यासका शीघ्र अंत कर देते हैं।

अश्मरी और मधुमेह—दोनों रोग एक ही विधिसे कारण दूर कर अच्छे किये गये हैं : अश्मरी छोटे-छोटे टुकड़ोंमें विभक्त हो जाती है जो पेशावके साथ आसानीसे बाहर निकल जाती हैं। अश्मरीके रोगियोंको स्नानोपचार चलाते समय बहुत अधिक पेशाब होता है जो उनके आश्चर्यका कारण होता है। जो मूत्र वाष्प बनकर विजातीय द्रव्यके रूपमें शरीरमें एकत्र हो गया रहता है वही पूर्वरूप धारणकर अपने पुराने मार्गसे बाहर निकलता है। मुझे कुछ रोगी ऐसे मिले हैं जिन्हें स्नानोपचारके समय ही ठीक तरहसे पेशाब होता था। रोगका कारण दूर हो जानेपर मूत्राशय धीरे-धीरे अपनी साधारण अवस्थामें आ जाता है।

सम्राट विलियम प्रथमके मूत्राशयमें बहुत बड़ी अश्मरी थी, फिर भी वह ९० वर्षकी अवस्थामें मरा। कारण यह था कि विजातीय द्रव्य ऐसे स्थानपर एकत्र हुआ था जहां वह अधिक हानिकारक नहीं सिद्ध हुआ। यह रोग उसके पुत्र सम्राट् फ्रेडरिकमें बहुत जल्दी और अधिक उग्र रूपमें प्रकट हुआ।

मूत्रक्षयकी अवस्थासे जिसमें रक्त और सारे शरीरमें मूत्रमें पाये जानेवाले घुलनशील संमिह (यूरिया) पाये जाते हैं, अश्मरी और मूत्राशयसंबंधी विकार आम तौरसे पाये जाते हैं। आकृति-निदानमें कुशल व्यक्तियोंसे यह विकृति आरंभिक अवस्थामें भी, जब कि रोगीको इसका ज्ञान नहीं होता; छिपी नहीं रह सकती। मेरे स्नानोंके सिवा और कोई

उपचार रक्त और शरीरको उतनी शीघ्रतासे इनसे मुक्त नहीं कर सकता।

## सोते समय मूत्रत्याग

सोते समय पेशाब उसी अवस्थामें हुआ करता है जब उदरपर विजातीय द्रव्यका भार अधिक होनेके कारण रोगी पेशाब रोकनेमें असमर्थ होता है। मूत्राशयमें नासूर-सा हो जाता है जिसके जरिये पेशाब निकल जाया करता है। यह स्थिति प्रायः रोगको दवाओं या अप्राकृतिक उपचारके जरिये दबा देनेके कारण उत्पन्न होती है। इसके तथा आंतके नासूरके बहुतसे रोगी मेरे उपचारसे कुछ ही दिनोंमें आरोग्यलाभ कर चुके हैं। रोगके जीर्ण हो जाने या दवाओंके कारण क्षति पहुंचनेकी हालतमें ही आरोग्य-लाभमें अधिक समय लगनेकी संभावना रहती है।

## मूत्राशयका प्रतिश्याय

मूत्राशयका प्रतिश्याय मूत्राशयके विषम विकार और अश्मरीकी आरंभिक तीव्र अवस्था है। इसमें मूत्राशयके साथ मूत्रप्रणालीमें भी प्रदाह होता है जिससे पेशाब उतरनेमें बहुत कष्ट होता है। मेरी पद्धतिसे यह अन्य तीव्र रोगोंकी तरह ही बड़ी आसानीसे अच्छा किया जा सकता है, क्योंकि इसका भी वही कारण होता है जो अन्य रोगोंका।

कुछ दिन पूर्वमें एक रोगीको देखने गया, जो पंद्रह दिनोंसे इस रोगसे ग्रस्त था। उसकी पीयूषग्रंथि सूज गयी थी और पेशाब उतरनेमें बड़ी तकलीफ हो रही थी। दस-दस मिनटपर मूत्राशयमें ऐंठन-जैसी वेदना होती थी और पेशाब उतरनेमें कठिनाईके साथ कष्ट भी बढ़ता जा रहा था। उसके चिकित्सकने कैथेटर (पेशाब उतारनेकी नली) लगानेका प्रस्ताव किया जो पौरुषग्रंथिकी सूजनका खयाल करते हुए असंभवप्राय था। चिकित्सकने क्लोरोफार्मका प्रयोग करना चाहा, पर रोगीने अपनी असहमति प्रकटकर मुझे बुला भेजा। पहले ही स्नानसे दस-दस मिनट पर होनेवाली ऐंठन दूर हो गयी और आधे घंटेतक स्नान चलानेपर बिना

किसी कष्टके पेशाब उतर गया। पैंतालीस मिनटतक स्नान करनेके बाद रोगी सो गया। रात्रिकालमें बहुत अधिक पसीना निकला और पेशाब भी बिना कष्टके अधिक मात्रामें हुआ। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें मूत्राशयका प्रतिश्याय दूर हो गया।

## यकृतविकार, पित्त-अश्मरी और कामला रोग

यकृत-विकार, पित्त-अश्मरी और कामला रोग मुख्यतः उन्हीं लोगोंको होते हैं जिनके दाहिने भागमें विजातीय द्रव्यका भार अधिक होता है। यकृतका स्राव—जिसे पित्त कहते हैं—पक्वाशय (डूडेनम) में पहुँचकर पाचनको प्रभावित और खमीरकी उत्पत्तिमें कमी करता है। दाहिनी ओर विजातीय द्रव्यका भार बढ़नेसे यकृतपर इसका असर पड़ता है और उसके स्रावमें बाधा पड़ती है। बायीं ओर भार बढ़नेपर जो पसीना निकलता है उसमें और दाहिनी ओरके भारके कारण निकलनेवाले पसीनेमें मात्रा की दृष्टिसे बहुत अंतर होता है। इस प्रकार विजातीय द्रव्यके भारके अनुसार ही पित्त-अश्मरीका निर्माण तथा यकृतमें काठिन्य होता है। ऐसे सभी रोगियोंको पसीना कम निकलता है, उसमें बदबू होती है और पैर भी पसीजते हैं। पित्तका विश्लेषण और उसका वाष्प तथा खमीर बनना त्वचाके काले रंगसे, जिसको 'यकृत-चिह्न' कहते हैं, बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यही बहुतोंमें बढ़कर कामला रोगका रूप धारण कर लेता है। मेरे उपचारसे यह रोग बहुत जल्द अच्छा हो जाता है।

## पैरोंका पसीजना

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यकृतके विकारसे इस रोगका बहुत अधिक संबंध है, इसलिए पैरोंसे बहुत अधिक पसीना निकलनेपर वर्षों पहले यह संकेत मिल जाता है कि दाहिनी ओर विजातीय द्रव्यका भार बढ़ रहा है। यकृत और पित्ताशयका रोग बढ़नेपर पसीनेका निकलना बंद हो जाता है और तब रोगीकी हालत और भी खराब हो जाती है; क्योंकि पैरोंसे जो मल और विकार पहले निकलता था वह अब शरीर

में ही रह जाता है और परिसर्प, कर्कटिका अदि अनेक रोगोंके रूपमें प्रकट होता है जिन्हें दूर करना कठिन और समयसाध्य होता है। दवाओंके जरिये इस पसीनेको रोकनेसे रोगीके स्वास्थ्यको बहुत अधिक क्षति पहुंचती है। औषधोपचारका दुष्परिणाम बहुत दिनोंतक प्रकट नहीं होता और किसी बुरे रोगका रूप धारण करके ही प्रकट होता है। विकृत प्रस्वेदको दवाओंके जरिये कृत्रिम रूपसे रोकना किसी बड़े नगरकी मुख्य मल-प्रणालीको, जिसमें बहुत-सी छोटी-छोटी मलकी नालियां आकार मिलती हैं, रोकनेके समान है। यह सत्य है कि मुख्य मल-प्रणालीका मुंह बंद करके उससे निकलनेवाली बदबू बंद कर दी जा सकती है, पर इससे सारे नगरकी हालत बहुत खराब हो जा सकती है—सब जगह महामारी उत्पन्न करनेवाली दुर्गंध भर जायगी। खेदकी बात है कि प्रचलित औषधविज्ञान इस रोगको दूर करनेके लिए क्रोमिक, सेलिसायलिक एसिड आदिका प्रयोग करनेकी राय देता है जो बहुत हानिकारक हैं। मेरी पद्धतिसे यह कष्ट-कर प्रस्वेद आप-ही-आप बंद हो जाता है; क्योंकि इसके मूल कारणका ही अंत हो जाता है।

## परिसर्प और अन्य चर्मरोग

चर्मरोगोंका भी एक सामान्य कारण है, चाहे स्फोटका रूप जैसा भी हो। मुझे बहुसंख्यक रोगियोंके उपचारमें संतोषजनक सफलता मिली है और बराबर इस मतकी पुष्टि हुई है कि पैर या शरीरके पसीनेको दबानेके ही कारण ये रोग बढ़े हुए रूपमें प्रकट हुए हैं। ये रोग अन्य दबाये हुए रोगोंकी जीर्णावस्थाके सूचक होते हैं इसलिए इनके उपचारमें अधिक समय और समझदारी आवश्यक होती है। परिसर्प (हर्पीज) नामक रोग सूखा या स्राववाला भी होता है। सूखा अच्छा करना और कठिन होता है। बच्चोंको यह रोग अकसर होता है जिसका कारण माता-पिता से प्राप्त विजातीय द्रव्य या किसी रोगका, विशेषकर टीकेसे उत्पन्न रोगका दबाया जाना होता है। इन रोगोंके स्वरूपके स्पष्टीकरणके लिए केवल दो उदाहरण काफी होंगे।

पहला रोगी दूसरी बार टीका लेनेके समयसे ही चर्मरोगसे ग्रस्त था और यह रोग सारे शरीरमें फैल गया था। उसको रातमें सोते समय दस्ताने पहनने पड़ते थे और हाथ भी बांध दिये जाते थे कि कहीं बदन न खरोंच डाले। पाजामे और ओवरकोटके पाकेटोंसे भी वह बराबर रगड़ा करता था। वह अपने साथियोंके साथ खेलने न जाकर पढ़नेमें समय व्यतीत करनेका प्रयत्न करता था जिससे उसकी हालत और खराब होती जा रही थी। अवस्थाके साथ उसका रोग भी बढ़ता ही गया। दिनोंदिन उसका दिल बैठता गया और अवस्था यहांतक पहुँच गयी कि वह मृत्युकी कामना करने लगा। मेरी रायके मुताबिक उसने मेरा ठंढ लानेवाला स्नान दो बार लेना शुरू किया और आहार भी संयत और अनुत्तेजक रखने लगा। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उसकी हालत सुधरने लगी और स्फोट भी ठीक होने लगा। कुछ ही दिनोंमें उसका टीकेसे उत्पन्न चर्मरोग बिलकुल अच्छा हो गया।

दूसरा व्यक्ति भयंकर उकवत (एक्जिमा) से परेशान था। उसकी अवस्था चौबीस सालकी थी। सिर और गर्दन विशेष रूपसे आक्रांत थे। लेप और दवाओंसे उसे कोई लाभ नहीं हुआ। जिससे औषधोपचार-पद्धति में उसका जरा भी विश्वास नहीं रह गया था। निदान करनेपर विजातीय द्रव्यका भार सामनेकी ओर देख पड़ा। मेरी पद्धतिसे उपचार आरंभ करनेपर कुछ ही कालमें उसका पाचन ठीक हो गया और रोगकी हालतमें भी सुधार देख पड़ने लगा। तीसरे ही दिन स्राव बंद हो गया और सोलह दिनोंमें स्फोटका नामोनिशान भी नहीं रह गया। इसी अरसेमें गलेकी मोटाई भी डेढ इंच घट गयी। विजातीय द्रव्य, जो गलेकी मोटाई और पामा या उकवतका कारण था, आंतों और वृक्कोंके रास्ते काफी मात्रामें निकल गया।

# हृद्रोग और शोथ

हृदयके रोगोंकी सूची बहुत लंबी है। प्रचलित औषधोपचार-पद्धतिके अनुयायी प्रत्येक रोगके विशेष लक्षणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका उपचार किया करते हैं। इन रोगोंका वर्गीकरण भी किया गया है—यथा हृदय और हृत्कपाटिकासंबंधी अंगिक रोग और हृद्विकार-के लक्षण जो बहुत कुछ क्षणिक कारणोंसे उत्पन्न हुआ करते हैं; किंतु अगर इन रोगोंके कारणोंपर निष्पक्ष होकर विचार किया जाय और उनकी व्याख्याके लिए प्राकृतिक प्रक्रियाओंकी ओर ध्यान दिया जाय तो हम निश्चयपूर्वक इसी परिणामपर पहुँचेंगे कि सभी हृद्रोगोंका मूल कारण हृदयपर विजातीय द्रव्यका एकत्र होना है। इसलिए इस कारणसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका वर्गीकरण निरर्थक ही है। हृदयकी अवस्थापर—उसकी हानिकारक प्रभावोंके निरोधके शक्तिके न्यूनाधिक विकासपर—ही किसी रोगका हलका या गंभीर होना निर्भर है। उदाहरणार्थ, अगर विजातीय द्रव्यका भार दाहिनी ओरकी अपेक्षा बायीं ओर अधिक हो तो रोगके गंभीर होनेकी संभावना अधिक रहेगी। अगर पैतृक रोग-प्रवृत्तिके कारण हृदयकी रचना दृढ़ न हो तो वह इस विजातीय द्रव्यके भारका निरोध नहीं कर सकेगा।

हृदयपर विजातीय द्रव्य जमा होनेपर इस लदावके साधारण लक्षण भी देख पड़ते हैं। हृदयका परिवेष्टन करनेवाले भागोंपर ही यह लदाव, जो प्रायः वसाके रूपमें होता है नहीं लक्षित होता, हृदयकी पेशियां भी प्रायः इस द्रव्यको जज्ब कर लेती और मोटी पड़ जाती हैं जिससे वे अपना कार्य साधारण रूपमें करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। यह कोई जरूरी नहीं है कि हर हालतमें पेशियोंका आकार बढ़े ही; प्रायः ऐसा होता है कि इस विजातीय द्रव्यके भारके कारण पेशियोंके तन्तु (टिसु) कड़े,

घने और तनावदार हो जाते हैं जिससे उनकी कार्य करनेकी शक्ति मंद पड़ जाती है। प्रायः सभी लोग जानते हैं कि त्वचामें कहीं सूजन होने पर सारे शरीरको अपना कार्य करनेमें बाधा पड़ती है। हृदयके संबंध में भी यही बात होती है। पेशियोंपरका विजातीय द्रव्यका लदाव उसकी क्रियाशीलताके ह्रासके रूपमें ही व्यक्त होता है। हृदयको अधिक श्रम करनेकी जरूरत पड़नेपर—किसी तरहका आघात पहुंचने, कोई अप्रत्याशित या उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली घटना घटित होने या शरीरका श्रम बहुत बढ़ जानेपर या यों कहिए कि हृदयकी ओर रक्त का प्रवाह साधारणसे अधिक हो जानेपर—हमें स्पष्ट रूपसे यह अनुभव हो जाता है कि हमारा यह अंग ऐसे अवसरोंका सामना करनेके योग्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें हृदयकी बढ़ी हुई धड़कन, चिंता, रक्त प्रवाहका रुक जाना, जड़ता, साँस लेनेमें कठिनाई आदि बातें देखी जा सकती हैं। साधारणतः इनके कारण अधिक कष्ट नहीं होता, कुछ अधिक या थोड़ी देरके लिए लस्त कर देनेवाली सुस्ती जान पड़ती है और ऐसा मालूम होता है जैसे कोई हृदयको दबा रहा हो।

हृत्कपाटिकामें भी इसी तरह खराबी आती है। विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जानेपर यह अपना काम समुचित रूपमें नहीं कर पाती। लदावके कारण इसकी सतहका रूप बदल जाता है जिससे यह निलयके द्वारपर ठीक-ठीक नहीं बैठती। निलयके संबंधद्वारकी आकृतिमें अंतर आ जानेपर भी हृदयमें खराबी आ सकती है। दोनों हालतोंमें कारण एक ही होता है।

हृदयकी नाड़ीसंबंधी विकृति वस्तुतः बहुत बड़ा मौलिक 'आविष्कार' है। जैसा कि नाड़ीसंबंधी रोगोंके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है, नाड़ियोंके विकृत होनेपर ही कोई अंग रुग्ण हो सकता है। यह खयाल करना कि केवल अंगविशेष रुग्ण और नाड़ियां पूर्ण रूपसे स्वस्थ अथवा नाड़ियां विकारग्रस्त और सारा शरीर स्वस्थ हो सकता है, प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंको गलत रूपमें समझना होगा। मेरे लिए तो यह

बिलकुल अतीतकी बात है। आज हम निश्चयात्मक रूपमें जानते हैं कि सैकड़ों बाह्य रूपोंवाले हृदयके रोगोंका एक ही सामान्य कारण होता है—शरीरमें विजातीय द्रव्यका अधिक मात्रामें एकत्र होना।

## शोथ

अगर हृद्रोगका कारण दूर न किया जाय या शरीरके अंदर अधिक विजातीय द्रव्य और दवाओंके जरिये विष पहुँचाया जाय तो हालत और खराब हो जायगी, शोथ हो जायगा। शोथ उन पूर्वरोगोंका चरम रूप हुआ करता है जो अच्छे नहीं किये गये होते। शोथमें शरीरमें पाया जानेवाला जल विजातीय द्रव्यका ही परिवर्तित रूप हुआ करता है। यह रोग इस बातका द्योतक है कि शरीरकी अवस्था ऐसी नहीं रह गयी है कि वह शुद्ध रक्त उत्पन्न कर सके और जो रक्त विद्यमान है उसकी सफाई कर सके। परिणाम यह होता है कि जिन रसोंसे रक्त बनना चाहिए था वे विजातीय द्रव्यके प्रभावसे खमीर बन जाते हैं और इस प्रकार उनका रूप परिवर्तित हो जाया करता है और किसी रोगमें विजातीय द्रव्यका विभिन्न रूपोंमें परिणत होना इतनी स्पष्टताके साथ नहीं देखा जा सकता। कुछ दिन हुए शोथका एक रोगी मुझे मिला था। उसका शरीर पानीसे इस कदर भर गया था कि वह ठीक रबरके फूले हुए नल-जैसा देख पड़ता था। भीतरकी ओरसे पानीका दबाव इतना अधिक था कि वह पैरोंके चर्मसे बराबर निकलता रहता था जिसका परिणाम यह होता था कि वह जहां बैठता वहांकी जमीन तर हो जाया करती थी। उसके संबंधकी विशेष बात यह थी कि वह मक्खनका व्यापारी था और रोज बहुत-सा मक्खन नमूनेके तौरपर भेजा करता था। उसके पैरसे निकले हुए पानीसे मक्खनकी गंध इस कदर आती थी कि उसका मूल कारण स्पष्ट होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता था। कुछ दिनोंमें उसका आमाशय बिना रोटी या इस तरहकी किसी चीजके साथ खाया हुआ मक्खन, जो नमूना भेजते समय चखकर देखना पड़ता था, पचानेमें अशक्त हो गया। मक्खनका अधिकांश न पचनेके कारण

विजात्तीय द्रव्य बनने लगा। बाम पार्श्वके बल सोनेसे यह द्रव्य उसी ओर एकत्र होने लगा। हृदयमें उसके आस-पास और न्यूनाधिक रूपमें सारे शरीरमें मेद एकत्र हो गया। पहला परिणाम हृदयके विकारके रूपमें प्रकट हुआ जो वर्षों बना रहा। अंततः इस विजातीय द्रव्यकी विकृति जलके रूपमें प्रकट हुई।

हृदयका विकार सभी अवस्थाओंसे गुजर चुका था। पहले इसे धड़कन, फिर हृदयकी नाड़ीका विकार और तब वसाजन्य अपकर्ष कहा गया। इनके अनंतर हृत्कपाटिकाकी विकृतिकी अवस्था आयी और उसके बाद हृदयके चारों ओरके अंगोंमें जल भर आया और अंततः शोथ अपने असल रूपमें प्रकट हुआ। रोगी उपचारकी विभिन्न पद्धतियोंका प्रयोग कर चुका था। अंतमें मेरे पास आया जब कि उसका रोग भीषण रूप धारण कर चुका था और हालत बहुत खराब हो चुकी थी। उसमें मेरा उपचार ठीक तरहसे चलानेकी शक्ति भी नहीं कर रह गयी थी। तरह-तरहकी दवाएं और विष दिये जा चुके थे। रोगकी प्रत्येक अवस्थाको एक नया नाम देकर किसी-न-किसी नये उपचारका प्रयोग होता गया था।

शरीरमें जल एकत्र होनेका कारण उदरके तन्तुओंका गलना है जो प्रायः बहुत धीरे-धीरे बढ़नेके कारण शीघ्र लक्षित नहीं होता। सांस लेनेमें कठिनाई और हृदयपर दबाव पड़नेपर ही यह रोग स्पष्ट होता है। अगर रोगके विरुद्ध शरीरकी प्रतिक्रिया आरंभ हो जाय और रोगीमें जीवशक्तिका प्रयोग करनेकी सामर्थ्य हो तो गलनेकी क्रिया तीव्र रोगका रूप धारण कर लेती है। रोग बहुत बढ़ जानेपर गलनेकी तप्त अवस्था रोगीको इतना निर्बल कर देती है कि रोग असाध्यप्राय हो जाता है। अगर रोगीमें इतनी जीवशक्ति शेष हो कि उसे प्रधानता प्राप्त हो सके तो वह प्रदाहका अंत करनेमें समर्थ हो जायगा।

एक सज्जन वर्षोंसे इस रोगसे ग्रस्त थे। ऐलोपैथीसे उन्हें जरा भी लाभ नहीं हुआ था। सारा शरीर फूल गया था और पैर ठीक दूने हो गये थे। इतनेपर भी उनको केवल सांस लेनेमें कष्ट होने और पैरोंके

भारीपनकी शिकायत थी। वे अभी मजेमें चल-फिर लेते थे। मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया कि रोग असाध्य हो गया है इसलिए मेरा उपचार शुरू न करें, पर उन्होंने हठ किया और मेरे विरत करनेके प्रयत्न करते रहनेपर भी उन्होंने उपचार आरंभ कर दिया। कुछ हफ्तोंतक आशासे अधिक हालत ठीक रही, ज्यादा पसीना और पेशाब आनेके कारण जल-की मात्रा शीघ्रतासे कम होती गयी जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई, पर अभी रोगसे उत्पन्न जल ही बाहर हुआ था, अब जल एकत्र होनेके कारणसे छुटकारा पानेका शरीरका कार्य शुरू हुआ। यह अंदरकी गलने-की क्रिया थी जिसकी ओर ध्यान नहीं गया था। इसे तीव्र अवस्थामें लानेपर ही रोगसे पिंड छूट सकता था। अगर शरीरमें पर्याप्त जीवशक्ति शेष होती तभी वह इस विकारको उत्पन्न करनेवाले विजातीय द्रव्यको दूर कर सकता था अन्यथा आंतरिक ताप शरीरको खा जाता। उपचार-का परिणाम पहला न होकर दूसरा ही हुआ जैसा कि मैं पहले कह भी चुका था। तीसरे सप्ताहमें जीर्ण गलन-क्रियाका परिवर्तन दाहिने पैरमें प्रकट हुआ। उसमें प्रदाह बढ़ता गया और अंतमें घुटनेसे नीचे अंगूठेके हिस्सेमें, जो दूसरे ही दिन काला पड़ गया था, चर्मस्फोट होकर खुला व्रण हो गया। गलनेकी क्रिया, जो भीतर चल रही थी, अब बाहर आ गयी और उनको असह्य पीड़ा होने लगी। चौथे सप्ताहमें काला पड़ा हुआ अंश एक मोटे चर्मखंडके रूपमें पृथक् हो गया और घाव भरने लगा। रोगीके शरीरका, जो अभी मोटा ही था, आंतरिक ताप बढ़ने लगा जो इस बात-का सूचक था कि विध्वंसक्रियाका रूप-परिवर्तन अभी चल ही रहा है। पहला परिणाम तीव्र प्यासके रूपमें प्रकट हुआ। उपचारका प्रत्युत्तेजक प्रभाव विध्वंस-क्रिया तथा आंतरिक तापका अंत नहीं कर सका जो रोगी-की क्रमशः बढ़ती हुई निर्बलतासे स्पष्ट था। अब रोगीमें स्नानोपचार चलानेकी भी शक्ति नहीं रही। उनतीसवें दिन बेहोशी आयी और उसके दूसरे ही दिन उसका प्राणांत हो गया।

एक और सज्जन इसी रोगसे बहुत दिनोंसे ग्रस्त थे और उनका रोग

भी गंभीर था, पर कुशल यही थी कि उन्होंने होमियोपैथी पद्धतिका सहारा लिया था और बहुत कम मात्रामें दवा खायी थी। तीन ही हफ्तेमें शरीरका सारा पानी निकल गया और चौथे सप्ताहमें शरीरके अंदर बहुत अधिक गर्मी मालूम हुई। दूसरे दिन उनके शरीरसे बड़ी बदबू निकली और पाखना भी काला हुआ जो अतिसार या हैजेके मलके रंगका था। यह तीन दिनोंतक चलता रहा। परिवारवाले इसका कोई कारण नहीं बतला सके; क्योंकि रोगीका आहार बहुत कम था। उनकी स्त्री घबरायी हुई मेरे पास आयी। मैंने उसे समझाया कि इस उभारके प्रकट होनेके कारण अब उनके लिए कोई खतरा नहीं रहा। उनका शरीर गलन-क्रियाका ही अंत करनेमें समर्थ नहीं हो गया था बल्कि विजातीय द्रव्यको बाहर करने योग्य भी हो गया था। पहले तो वे उभारके कारण बहुत दुर्बल और लस्त-से हो गये, पर जल्द ही आरोग्य लाभ करने लगे। अब वे ठीक वैसे ही स्वस्थ हैं जैसे बीस वर्ष पहले थे। उनके नीरोग हो जानेका कारण यह हुआ कि उनका शरीर विध्वंस-क्रियाका जीर्णसे तीव्र अवस्थामें परिणत होना सहन करनेमें समर्थ था।

शोथ तभी अच्छा हो सकता है जब जलवाले भागसे आप-ही-आप खूब पसीना निकल सके। इसी हालतमें जल या अन्य विजातीय द्रव्यका निःसरण होकर पचान ठीक हो सकता है। जीवशक्ति कम हो जानेकी हालतमें शोथ असाध्य हो जाता है; क्योंकि इस हालतमें शरीर विजातीय द्रव्यको बाहर नहीं निकाल सकता और पाचनका स्थायी रूपसे सुधार भी नहीं हो सकता। मेरे आकृतिविज्ञानके सहारे वर्षों पहले इस रोगके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं और उपचारद्वारा इसका असाध्य रूप ग्रहण करना रोका जा सकता है।

एक सज्जन चौबीस वर्षोंसे बटाबिया (जावा) में निर्यात व्यापारका कारबार कर रहे थे। उनके कथनानुसार उनका स्वास्थ्य काफी अच्छा रहता था, सिर्फ कभी-कभी ज्वर हो जाता, आँखें आ जातीं और पैरोंमें फोड़े भी हो जाया करते थे। इन लक्षणोंसे यह स्पष्ट था कि उनका

स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। विजातीय द्रव्य शरीरमें भरा हुआ था। यह पहले शरीरके एक ही भागमें जमा हुआ और गर्म आबहवाके कारण जल्द खमीर बन गया। इस प्रकार रोग तीव्र अवस्थामें परिणत हो गया। १८७९ में सिरके पिछले भागमें बाय कानकी जड़के पास काफी सूजन हो गयी जो विषैली दवाके जरिये दबा दी गयी। कुछ दिनोंके पश्चात् रोग दूसरे रूपमें प्रकट हुआ—एक अंगुली सूज गयी और उससे बहुत-सा पूय निकला, यहांतक कि अस्थिका कुछ अंश भी गल गया। उंगली अभी पूरी तरहसे ठीक भी नहीं हुई थी कि आंतोंसे बहुत-सा खून गिरा जो इस बातका सूचक था कि बवासीरकी कोई गांठ फट गयी है। इसके कुछ ही दिन बाद बायें पैरमें फोड़ा हुआ जिससे बहुत दिनोंतक पूय निकलता रहा। उनके हाथ-पैर बहुत ठंढे रहते थे, ठंढा पसीना निकलता था और प्रायः ज्वर भी हो आता था। ये सब किसी गहराईतक पहुंचे हुए रोगके लक्षण थे। १८८२ में पहलेसे भी तेज ज्वर हुआ जो बहुत दिनोंतक बना रहा। उनके चिकित्सकने इसे कुष्ठ रोगका लक्षण बतलाकर उन्हें यूरोप जानेकी राय दी। यूरोपके कुष्ठ-विशेषज्ञोंने भी इसे कुष्ठ ही माना। उन्होंने कई प्रख्यात चिकित्सकोंसे उपचार कराया। इन उपचारोंसे उनकी ताकत तो कुछ बढ़ी, पर शरीरमें जहां-तहां लाल धब्बे निकल आये। जावा लौटनेपर गर्म आबहवाके कारण काफी पसीना निकलता रहा और धब्बे भी गयाब हो गये, पर कुछ ही दिन बाद हृदयकी गड़बड़ी शुरू हो गयी और तेज ज्वर भी रहने लगा।

इस स्थितिसे यह स्पष्ट था कि रोगका कारण दूर नहीं हुआ था। यूरोपकी ठंढी आबहवामें वह जीर्णावस्थामें परिणत होकर अदृश्य हो गया था जो जावा पहुंचनेपर तीव्र रूपमें परिणत हो गया। दूसरी बार यूरोप आनेपर धब्बे फिर निकल आये और विशेषज्ञोंके उपचारके बावजूद उनकी हालत दिनोंदिन खराब ही होती गयी। १८८९ में वे एक जरूरी कामसे फिर जावा गये, पर रोग इतना जीर्ण हो गया था कि इस बार वहांकी गर्म आबहवाका उनपर कोई असर नहीं हुआ और पैरमें पानी भी आ

गया। वे किसी तरह फिर यूरोप पहुंचे, पर चिकित्सकोंने कह दिया कि रोग असाध्य हो गया है।

एक पुराने परिचितकी रायसे उन्होंने नैराश्यकी अवस्थामें मेरा उपचार आरंभ किया। विजातीय द्रव्यके आधिक्यके कारण उनके शरीरकी आकृति बिलकुल बदल गयी थी। गलेपर विजातीय द्रव्यका एक पिंड—गलगंड—बन गया था और गला घड़में इतना धंस गया था कि उसका कुछ ही भाग देख पड़ता था—दोनोंकी सीमा बिलकुल लुप्त हो गयी थी। ललाटपर एक इंच ऊंची सूजन थी, आंखोंके चारों ओरके हिस्से तो सूजे हुए थे ही, सारा सिर भी विजातीय द्रव्यके लदावसे काफी बढ़ गया था। दाहिने घुटनेके नीचे गलनेकी क्रिया जारी थी और पैरोंमें ज्यादा पानी आ जानेके कारण वे कष्टसे ही उनका इस्तेमाल कर पाते थे। वृक्कों, आंतों आदिके ठीक तरहसे काम न करनेके कारण पाचन बहुत खराब हो गया था। बेचैनी बराबर रहती थी, हाथ-पैर बर्फकी तरह ठंढे रहते थे और रंग नीला पड़ गया था।

उपचार आरंभ करनेपर शीघ्र ही सुधारके लक्षण नजर आने लगे—पाचनका सुधार होने लगा; आंतें और वृक्क कुछ कार्य करने लगे; पेशाब पहले हलका और साफ होता था, वह अब गाढ़ा और गंदला निकलने लगा जो इस बातका सूचक था कि उसमें विजातीय द्रव्यकी मात्रा अधिक रहती है। दूसरे ही दिन रोगीको कुछ आराम मालूम हुआ, हालां कि कुछ क्लांति जरूर मालूम हुई जो विजातीय द्रव्यको निकालनेमें लगनेवाली शक्तिके कारण थी। बहुत अधिक मात्रामें पसीना भी निकलने लगा जो आरोग्यलाभमें सहायक हुआ। शीघ्र ही बाह्य रूप-रंगमें भी परिवर्तन होने लगा, क्योंकि विजातीय द्रव्य बड़ी तेजीसे बाहर निकल रहा था।

गलनेकी क्रियाका अंत होना भी एक मनोरंजक दृश्य था। वह हिस्सा पहले गाढ़ा भूरा और तब नीलापन लिये लाल हो गया। यह

चार इंच चौड़ाईमें था। पैर और भी मोटा हो गया जिससे विजातीय द्रव्यका खमीर बनना और रूप बदलना स्पष्ट हो गया।

उनमें जो उभार प्रस्तुत हो रहा था वह बहुत गंभीर था, पर उनकी अच्छी जीवशक्ति उन्हें संभाले रही। चलने-फिरनेमें समर्थ न होते हुए भी जलवाले स्थानसे काफी पसीना निकलता रहा जो उनके शरीरकी प्रतिक्रियाशक्तिका स्पष्ट प्रमाण था। चार सप्ताहमें शरीरका सारा जल निकल गया और सूरत-शक्लमें इतना परिवर्तन हो गया कि पहचानना भी कठिन हो गया। रोगसे छुटकारा मिल जानेपर उदासी और निरुत्साहका स्थान प्रसन्नता और स्फूर्तिने ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार औषधोपचार-पद्धतिके निदान और उपचारके बिलकुल निकम्मा होनेका एक और प्रमाण मिला।

# सुषुम्नाके रोग—उसका क्षय, अर्श

सुषुम्नाका कोई भयंकर रोग प्रकट होनेके पहले बहुत दिनोंतक जीर्ण रोगकी प्रवृत्त, इसके भावी रूप और नाड़ियोंपर विजातीय द्रव्यके एकत्र होनेके कारणोंका पता चल जाता है। विजातीय द्रव्यका भार बढ़नेकी हालतमें—रोगी विवाहित हो या अविवाहित—प्रायः शुक्रपात हुआ करता हैं। यह शुक्रपात नाड़ियों—विशेषकर सौषुम्निक मज्जा और इडावात-नाड़ीके जीर्ण प्रदाहका ही परिचायक होता है। जो पृष्ठ-भागपर विजातीय द्रव्यके भारके कारण उत्पन्न होता है। प्रदाह बराबर बढ़ता जाता है और नाड़ियोंकी निरोध-शक्ति दिनोंदिन कम पड़ती जाती है जिससे अंतमें रोगीके अंग उसके नियन्त्रणसे बाहर हो जाते हैं। यह लक्षण सबसे पहले पैरोंमें देख पड़ता है। शुक्रपातके साथ-साथ विकारके और भी चिह्न प्रकट होते हैं। बहुतोंमें कटिदेशमें एक विचित्र संकुचनकी-सी अनुभूति होती है जो लदावकी स्थितिके अनुसार कुछ भिन्नता लिये होती है। कभी-कभी कमरके भीतरी हिस्सेमें कुछ ठंढ भी जान पड़ती है। अस्वस्थताकी अवस्था बनी रहती है। रोग बढ़ जानेपर कमरमें प्रायः तेज चिलक होती है और कभी-कभी नाड़ी-पीड़ा या कमरकी संधिमें दर्द भी होता है जो बहुत कष्टकर होता है।

सुषुम्ना नाड़ीके रोग कई रूपमें प्रकट होते हैं। लदावमें एकरूपता होनेपर, जो इस प्रकारके विकारमें प्रायः देखी भी जाती है, तांडव तथा अन्य कई रोग होते हैं।

सुषुम्निक मज्जाका रोग बहुत बढ़ जानेपर प्रायः असाध्य हो जाता है। इस हालतमें उपचारसे अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि रोगी-को पीड़ासे छुटकारा मिल जाय। अगर पाचनमें कुछ सुधार होनेकी

गुंजाइश हो तो यह कार्य आसानीसे हो जा सकता है। इससे रोगीको अंदर शांति मालूम होगी, नींद आ सकेगी और भूख भी लगा करेगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आकृतिविज्ञानकी मददसे इस रोग-के अंतिम रूपकी प्रतीक्षा करनेकी जरूरत नहीं रह जाती; उसकी रोक-थामके लिए पहले ही उपचार आरंभ कर दिया जा सकता है। सुषुम्ना-संबंधी ये खराबियां मामूली रोगोंकी तरह आसानीसे दूर कर दी जा सकती है, पर अगर रोग बहुत बढ़ गया है और औषधोपचारका सहारा लिया गया है तो आरोग्यलाभ बहुत कठिन हो जाता है। जो इमारत आगकी लपेटमें पूरी तरह आ गयी है उसे भस्मसात् होनेसे बचाना प्रायः असंभव ही होता है।

मैंने सुषुम्नाके रोगसे ग्रस्त बहुतसे व्यक्तियोंका उपचार किया है, पर सबको नीरोग करनेमें समर्थ नहीं हो पाया हूं; बहुतोंको आंशिक लाभ से ही संतोष करना पड़ा है। इन लोगोंने औषधोपचारका सहारा लेकर अपने अंगोंको इतना निःशक्त बना डाला था कि बड़ी सावधानीके साथ उपचार करने पर भी उन्हें पूर्णतः नीरोग नहीं किया जा सका।

एक युवक सुषुम्नाके रोगसे बेतरह परेशान था। उसके दोनों पैर निश्चेष्ट हो गये थे। एक वर्षसे अधिक कालतक वह विशेषज्ञोंका उपचार करता रहा, पर उसे कोई लाभ नहीं हुआ। वह अपने पैरोंको हिला-डुला भी नहीं सकता था, यहांतक कि वह खड़ा भी नहीं हो सकता था। चौबीस वर्षकी अवस्थामें ही वह असहायावस्थामें विस्तरपर पड़ा रहता था; कहीं जाना आवश्यक हुआ तो कुर्सीपर बैठाकर ले जाया जाता था। उसका पाचन बिलकुल खराब हो गया था—कृत्रिम सहायता लिये बिना आंतें जरा भी काम नहीं करती थीं। उसे पेशाब हो जाता था, पर उसे इसका पता भी नहीं चल पाता था। कहीं ले जानेके लिए कुर्सीपर बैठाते समय उसके पैरोंको उसकी स्थितिके अनुसार ठीक कर देना पड़ता था।

पहले मैंने रोज चार बार ठंडा स्नान कराना शुरू किया और खाने-को केवल शुष्क प्राकृतिक आहार दिया जाने लगा। उसकी पाचन-शक्ति

बिलकुल क्षीण हो गयी थी, इससे पहले महीनेमें कोई विशेष सुधार नहीं देख पड़ा, पर दूसरे महीनेमें सुधार स्पष्ट रूपमें देख पड़ने लगा। दो महीने बाद उसमें पेशाबपर नियन्त्रण करनेकी शक्ति आ गयी और पैरोंकी हालतमें सिर्फ इतना सुधार हुआ कि वह उन्हें थोड़ा-थोड़ा इधर-उधर हटाने लगा और नौकरकी सहायता लिये बिना ही कुछ देरतक खड़ा भी रहने लगा। नौ मासके उपचारसे उसकी स्थिति यहांतक सुधर गयी कि वह बिना किसीकी सहायता लिये कमरेमें कुछ टहल-फिर लेने लगा। दो महीने बाद पैर बिलकुल काबूमें आ गये। उसका सौषुम्निक रोग, जो विजातीय द्रव्यके भारसे उत्पन्न हुए आंतरिक तापके कारण था, ठीक उसी तरह दूर हो गया जिस तरह साधारण रोग दूर हुआ करते हैं।

इस रोगीके उपचारसे यह भी स्पष्ट हो गया कि पृष्ठ भागमें बढ़े हुए भारसे उत्पन्न रोगोंको दूर करना कितना कठिन होता है। उसका उपचार आरंभ करते समय, आरोग्य-लाभकी बात तो दूर रही, मैं यह भी अनुमान नहीं कर सका था कि उसकी अवस्था सुधर सकेगी; क्योंकि पाचन बिलकुल खराब हो गया था और आरंभमें सुधारका कोई लक्षण नहीं देख पड़ा। उसके असाधारण अध्यवसायसे ही आरोग्यलाभ संभव हो सका। अगर उसने कुछ दिन पहले मेरा उपचार शुरू किया होता तो उसके पैर नियंत्रणसे बाहर न हुए होते और आसानीसे आरोग्यलाभ हो गया होता।

एक व्यक्ति, जिसकी अवस्था सैंतालीस वर्षकी थी, सुषुम्नाके क्षयसे बहुत दिनोंसे पीड़ित था। औषधोपचारसे उसे जरा भी लाभ नहीं हुआ था। विजातीय द्रव्यका भार इतना अधिक था कि वह बड़ी कठिनाईसे चल पाता था। प्रायः कटिवात और शूल-जैसी पीड़ाका आक्रमण हुआ करता था। वह पूरी तरह सो नहीं पाता था जिससे उसे कई दिनोंतक विश्राम नहीं मिल पाता था। पाचनशक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी और शरीरकी स्थिति भी खराब ही थी। पहले ही महीनेमें उपचारका अच्छा प्रभाव पड़ा। अनिद्रा दूर हो गयी और तरह-तरहकी

पीड़ाओंसे भी उसे मुक्ति मिल गयी। पाचन-शक्ति भी कुछ बढ़ गयी, पर पैरोंमें अभी कमजोरी बनी हुई थी जिससे आरोग्य-लाभकी उसे बहुत कम आशा थी। वह अनिद्रा और पीड़ाओंको स्वतंत्र रूपमें मानता रहा और समझता था कि सुषुम्नाके रोगसे उसका कोई संबंध नहीं है। आहार-संबंधी नियमोंका पालन कठिन समझकर उसने दस महीने बाद उपचार छोड़ दिया। कुछ ही दिनोंमें उसकी हालत और खराब तथा नैराश्यजनक हो गयी।

जो सुधार हुआ था उसे रोगीको बहुत बड़ी सफलता समझना चाहिए था, केवल इसलिए नहीं कि उसकी हालत और खराब नहीं हुई, बल्कि इसलिए कि कष्टदायक लक्षण शीघ्र ही दूर हो गये थे। धैर्य और अध्यवसायके साथ उपचार चलाते रहनेपर और तकलीफ भी धीरे-धीरे दूर हो गयी होती।

अर्शका भी सुषुम्नाके रोग और पृष्ठभागके लदावसे ही संबंध होता है। यह रोगीकी जीर्णावस्थाका सूचक है और उसके होनेका कारण उदरका अधिक प्रदाह है। इस प्रकारके रोगियोंका पाचन अवश्य खराब होता है। उदरके अर्बुदका खमीर बनना इस बातका प्रमाण है कि शरीर की आरोग्यदायक जीव-शक्ति बहुत क्षीण हो गयी है।

सत्रह सालका एक लड़का, जिसको पाचनसंबंधी रोग था, मेरी राय लेने आया। उसके कथनसे मालूम हुआ कि ग्यारह सालकी अवस्थासे ही उसे अर्श है और आंतोंसे खून जाता रहता है। पंद्रह वर्षकी अवस्थामें अर्श गायब हो गया और उसे भयंकर सिरदर्द शुरू हो गया जिसपर किसी भी दवाका कोई असर नहीं हुआ। अंतमें उसके सिरके पिछले भागमें गांठें निकल आयी और सिरका आकार भी बढ़ने लगा जिससे यह स्पष्ट हो गया कि सिरमें कोई चीज इकट्ठी हो रही है जो पहले वहां नहीं थी, पर इस बातका किसीको भी गुमान नहीं था कि अर्शकी वही ग्रंथियां अधिक कठिन रूपमें सिरमें प्रकट हुई हैं। आकृति-विज्ञानसे परिचित व्यक्तिके लिए यह समझना कठिन नहीं था। भयंकर सिर-दर्द ही किसी कठिन

कारणके मौजूद होनेका पर्याप्त प्रमाण था, पर दुर्भाग्यवश किसीको उसकी पहचान नहीं थी। बेचारी माताको अपने अल्पवयस्क पुत्रमें वही भयंकर रोग देख पड़ा जिससे उनचालीसकी ही उम्रमें उसके पतिकी मृत्यु हुई थी। कोई भी उपचार प्रभावकर सिद्ध नहीं हुआ। रोग दिनोंदिन उसपर हावी होता गया। वह इस भयंकर सिरदर्दके कारण काम करने योग्य तो रह ही नहीं गया था, कभी-कभी मूर्छित भी हो जाने लगा। इसी दयनीय अवस्थामें वह मेरे पास लाया गया।

पृष्ठभागमें लदाव होनेके कारण कभी-न-कभी भेजेमें प्रदाह होना निश्चित था। उसने नियंत्रित आहारके साथ-साथ ठंढा स्नान और व्यायाम नियमित रूपसे चलाया जिसका बहुत अच्छा परिणाम देख पड़ा। पहले ही सप्ताहमें सिरदर्द चला गया; सिर्फ सिरकी गांठोंके विघटनके समय कभी-कभी थोड़ी देरके लिए दर्द हो जाता था। पाचन और भूखमें संतोषजनक रूपमें वृद्धि हो गयी और आरोग्य लाभ होते-होते बाहर और भीतरकी गांठें बहुत कुछ दूर हो गयी और सिरका आकार भी कुछ घट गया। बादके दो मासमें गांठ और भी कम हो गयी और उसके बाद छह मासमें तो उनका नामोनिशान भी नहीं रहा।

शीघ्र ही एक परिवर्तन आरंभ हुआ जो देखनेमें बहुत खराब जान पड़ा। उसकी माताने बतलाया कि अर्श पुनः अपने पूर्व रूपमें प्रकट हो गया है। मैंने उसे समझाया कि सिरमें जो गांठें थीं वे ही वहांसे हटकर फिर अपने पहले रूपमें परिवर्तित हो गयी हैं। जिस प्रकार भेजेका क्षय अच्छा किया गया है उसी प्रकार इस अर्शको भी, जो भेजेके क्षयका आरंभिक रूप है, अच्छा करना पड़ेगा। इससे माताका संदेह दूर हो गया और एक सालके उपचारसे अर्श रोग पूर्ण रूपसे दूर हो गया।

# रक्ताल्पता और हरित् रोग

## ( १ )

समाजके सभी वर्गोंमें आज रक्ताल्पता और हरित् रोगकी शिकायत सुननेमें आ रही है। इतनी दवाओंके मौजूद होते हुए भी धनी या निर्धन, नवयुवक या वृद्ध कोई इससे बचा नहीं है। उच्च वर्गके लोग हो, जिन्हें डाक्टर सुलभ हैं, इन दवाओंका—विशेषकर अंडा, मांस-मछली, शोरबा, सुरा आदि पौष्टिक आहारके रूपमें—इस्तेमाल करते हैं।

आधुनिक औषध-विज्ञानको अपनी प्रगतिपर बड़ा नाज है। रसायन शास्त्र और शरीर-क्रियाविज्ञानका दावा है कि उन्होंने सारे खाद्य पदार्थोंके पोषक तत्त्वों और मानवशरीरपर पड़नेवाले उनके प्रभावका ठीक-ठीक पता लगा लिया है; पर आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस वैज्ञानिक ज्ञानके बावजूद रोगोंमें कमी होना तो दूर, उलटे दिनोंदिन वृद्धि ही होती जा रही है। इनके कारण निर्बलता, कृशता और नाड़ी-विकृतिके साथ-साथ कामवासना भी बढ़ती जा रही है और बच्चोंको माताका दूध पर्याप्त मात्रामें प्राप्त नहीं हो रहा है। सारांश यह कि इन विकारोंके कारण लोगोंकी शारीरिक और मानसिक शक्तिका ह्रास हो रहा है जिससे वे चिंतन या अन्य कार्य करनेमें असमर्थ होते जा रहे हैं। क्लांति, पैरोंमें भारीपन, पेशियोंमें पीड़ा, मंदाग्नि, आंतोंकी निष्क्रियता आदि भी इन्हींके परिणाम हैं।

### अपस्मार

रासायनिक विश्लेषणद्वारा प्राप्त तथ्योंके आधारपर औषधोपचारक इन रोगोंमें मांसका सार लेनेकी राय दिया करते हैं जिसमें विस्फोटके लिए सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान रहते हैं। जबतक पृथ्वीके अंदर

ही नहीं, असाध्य रोगवाले कुछ व्यक्ति भी मुझे मिले हैं पर उनका रोग या तो बहुत अधिक जीर्ण हो गया था या ब्रोमाइड आदि दवाओंके इस्ते-मालसे पाचनशक्ति बिलकुल क्षीण हो गयी थी। इन रोगियोंका मस्तिष्क और नाड़ी-संबंध इतने छिन्न-भिन्न हो गये थे कि उन्हें पूर्व अवस्थामें लाना संभव नहीं था। कुछ ऐसे रोगी भी मुझे मिले हैं जिन्हें सावधानी और सतर्कताके साथ वर्षों उपचार करनेपर रोगसे मुक्ति मिली है। मूर्च्छा आना बंद हो जानेपर यह समझ लेना चाहिए कि अब रोगीके शरीरमें विजातीय द्रव्य नहीं है, पर इसे पूर्णरूपसे निकाल बाहर करनेके लिए और अधिक कालतक उपचारका क्रम चलाते जाना आवश्यक होता है।

इस अवस्थाके स्पष्टीकरणके लिए एक रोगीके उपचारका विवरण देना आवश्यक जान पड़ता है। उन्नीस वर्षकी एक लड़की आठ सालसे भयंकर अपस्मारसे पीड़ित थी। हर हफ्ते उसे दो बार दौरा हुआ करता था। उसका पाचन बहुत खराब हो गया था और मासिक स्राव भी निय-मित रूपसे नहीं होता था। रजस्वला होनेके बादसे स्राव कभी ठीक समयपर नहीं हुआ— कभी तो लगातार बहुत दिनोंतक रुका रहता और कभी जल्द-जल्द हुआ करता था।

आकृतिविज्ञानके सहारे यह भी स्पष्ट हो गया कि उसके रक्तमें हरी-तिमा अधिक है और क्षयकी भी प्रवृत्ति है। उसका सिर असाधारण रूप में बड़ा था। कुशल यही थी कि विजातीय द्रव्यका भार अनुकूल स्थितिमें था—ऐसा था कि मैं उसे आरोग्य-लाभका आश्वासन दे सकता था। उपचार चलते समयकी अवस्थाके संबंधमें उसे भ्रम न हो इसलिए मैंने साफ-साफ बतला दिया कि पहले पक्षमें दौरा अधिक हो सकता है, पर बादमें कम पड़कर बिलकुल बंद हो जायगा। उसे वाष्पस्नान नहीं कराया गया और इस प्रकारके रोगमें प्रायः कराया भी नहीं जाता। तीन ही सप्ताहमें रोगसे उसको मुक्ति मिल गयी।

उपचारकालकी अवस्था ठीक वैसी ही रही जैसी होनेका मैंने अनु-मान किया था। आरंभमें दो-तीन और इससे भी अधिक बार दौरा होता

रहा पर सोलह दिन बाद मूर्च्छा घुमटेमें परिवर्तित हो गयो। शीघ्र आरोग्यलाभ इस कारण संभव हुआ कि उसका पाचन आश्चर्यजनक रूपमें सुधर गया और मासिक स्राव भी साधारण हो गया। बहुत-से रोगियोंको इतनी शीघ्रतासे आरोग्यलाभ नहीं होता। इस रोगसे पीड़ित अन्य व्यक्तियोंको चंगा करनेमें मुझे इससे दूना, तिगुना या इससे अधिक समय लग गया है।

## मुक्तस्थान-भीति

इस रोगमें रोगी चौड़े, खुले स्थानसे होकर चलनेमें असमर्थ होता है। यह रोग भी विजातीय द्रव्यके अधिक भारके ही कारण होता है। यह अवस्था इस कारण उत्पन्न होती है कि शरीरके भीतरी तनावके कारण या तो रोगीका शरीर वायुमंडलका दबाव या चाप सहन करनेमें सक्षम नहीं होता या इस चापका भार उसके किसी भीतरी भागपर इतना अधिक होता है कि वह उसका निरोध नहीं कर सकता। हवा जितनी शुद्ध और पतली होती है उतना ही अधिक भार उसको जान पड़ता है। मेरी आरोग्यशालामें इस प्रकारके कुछ रोगी उपचार कराने आये थे। वे मकानोंसे सटकर चलनेपर ही अपनेको गिरनेसे रोक सकते थे। इसका रहस्य यह है कि सड़कके मध्य भागकी अपेक्षा मकानोंके पासकी हवा अधिक घनी होती है। दोनों स्थानोंकी हवामें बहुत कम फर्क होते हुए भी रोगीको बड़ी आसानीसे इसका अनुभव हो जाता है। जिस स्थानकी हवा अधिक शुद्ध और पतली होती है वहां रोगीको बहुत अधिक दबाव और बेचैनी मालूम होती है।

मुक्तस्थान-भीतिका रोग भी क्षय तथा कर्कटिकाकी तरह हमेशा किसी पूर्ववर्ती रोगका चरम रूप होता है, चाहे वह उसे ही हुआ हो या मां-बापसे प्राप्त हुआ हो। रोगीका नीरोग होना या न होना रोगकी, उसकी शारीरिक अवस्था तथा विजातीय द्रव्यकी स्थितिपर निर्भर होता है।

( २ )

शरीरपर अचानक आक्रमणकर उसे विवश बना देनेवाला अपस्मार पहले दबाए हुए रोगों या माता-पितासे प्राप्त यौन रोगोंका, जो पिताकी युवावस्थाकी मूर्खताके कारण होते हैं, परिणाम होता है। यौन रोगोंमें विजातीय द्रव्य औषधोपचारद्वारा शरीरके अंदर पहुंचा दिया जाता है और फिर वही संतानके शरीरमें पहुँचकर अपस्मारका मूल कारण होता है।

इस रोगसे ग्रस्त व्यक्तियोंका उपचार करते समय मैंने प्रायः अनुभव किया है कि इसका अचानक होनेवाला दौरा पेटमें बराबर खमीर बनते हुए विजातीय द्रव्यके स्फोटके ही कारण होता है। बहुत-से व्यक्तियोंमें यह खमीर पहले पैरोंकी ओर जाकर फिर ऊपरकी ओर बढ़ता है। इस खमीरके उफानके कारण बहुतसे लोग तो गिरनेके पहले कई चक्कर खा लेते हैं और कुछ लोग खमीरके पहुँचते ही बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़ते हैं। शरीरके अंदर होनेवाली इस क्रियाकी तुलना ज्वालामुखीकी उस अवस्थासे की जा सकती है जिसमें गैसें और अन्य उत्तप्त पदार्थ पृथ्वीके अंदर एकत्र होकर स्फोटद्वारा एकाएक निकल पड़ते हैं। खमीरको स्वस्थ बनाये रखनेके लिए औषधोपचारक पौष्टिक आहार ग्रहण करने और वटिका, चूर्ण, कुनैन तथा विभिन्न रूपोंमें लोहा खानेको कहते हैं, पर इस उपचारका परिणाम अभीष्ट फलके विपरीत ही हुआ करता है—रक्त और कम पड़ जाता है, हरापन बढ़ जाता है और ऊपरसे अन्य प्रकारके कष्ट भी उत्पन्न हो जाते हैं और इन सबका एकमात्र कारण होता है अप्राकृतिक औषधोपचार। आज तो नवजात शिशुओंमें भी रक्ताल्पता देखी जाती है।

इन परीक्षणोंके आधारपर हम इसी नतीजेपर पहुंचते हैं कि आधुनिक औषधोपचार और रोगियोंको दिया जानेवाला आहार उपयुक्त नहीं होता। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि रसायनशास्त्र अभी इतना उन्नत नहीं है कि जीवित शरीरके अंदर होनेवाली क्रियाओं-

के संबंधमें कोई मत निर्धारित करते समय वह भूल न करे। हम अपने अनुभवके आधारपर कह सकते हैं कि कृत्रिम रूपसे तैयार किये गये सतों और रोगीको पोषण प्रदान करनेके लिए प्रस्तुत की गयी कृत्रिम चीजों-को पचाना बहुत कठिन होता है और प्रायः ऐसा होता है कि वे जरा भी नहीं पचतीं। जो खाद्य पदार्थ प्राकृतिक रूपमें पाये जाते हैं और पकाकर या मसाले डालकर विकृत नहीं किये गये होते वे बड़ी आसानी-से पच जाते हैं।

हमारी चिकित्सा-पद्धति सर्वथा भिन्न है। रक्ताल्पता और हरित् रोगमें जो बाह्य लक्षण देख पड़ते हैं उनसे रोगके वास्तविक स्वरूपका जरा भी पता नहीं चलता। हम जानते हैं कि साधारण चर्म, रक्ताल्पता-के रोगीकी तरह नीला, पीला या भूरा नहीं होता, कुछ चमक लिये हुए लाल होता है, पर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ रक्त करीब-करीब काला, गाढ़ा और कुछ जमा हुआ-सा होता है। अगर विजातीय द्रव्य-का भार बहुत अधिक हो तो रक्तनलिकाएं फैल जाती हैं और जहां-तहां थैलेका रूप धारण कर बहुत अधिक रक्त रोक रखती हैं। विजातीय द्रव्यके लगातार तनाव और भारके कारण इन नलिकाओंके फैलनेकी क्रिया जारी रहती है, इसी कारण रक्ताल्पता और हरित् रोगके रोगि-योंमें चर्मकी विवर्णताके साथ काली-काली शिराएं स्पष्ट रूपसे दृष्टि-गोचर होती हैं। साधारण अवस्थाकी रक्तनलिकाएं, जिनमें स्वस्थ और गतिशील रक्त रहता है, चमड़ेके अंदरसे झलकती तो रहती हैं, पर उनमें रक्ताल्पताके रोगी—जैसी न तो नीलिमा ही देख पड़ती है और न फैलाव ही, इसके अलावा इस प्रकारके रोगियोंका चर्म भी मुरझाया हुआ, निष्क्रिय और नीलापन लिये हुए पीला तथा मोम—जैसा देख पड़ता है। कुछ रोगियोंका चेहरा लाल और शरीर ऊपरसे ताजा—जैसा देख पड़ते हुए भी उनमें निःशक्तता और क्षीणता होती है और आहारसे रस नहीं बनता। बाहरसे स्वस्थ मालूम होनेवाली इस अवस्थाको औष-धोपचार-पद्धतिके अनुयायी 'खयाली बीमारी' कह दिया करते हैं।

रक्ताल्पता तथा हरित् रोगोंमें अंदर तो हमेशा उत्ताप बना रहता है, पर बाहर शीत—जैसा संवेदन होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य जीर्ण रोगोंकी तरह इनमें भी ज्वर अन्तर्लीन अवस्थामें बना रहता है।

त्वचा और फुप्फुसोंका उचित रूपमें सक्रिय न रहना और पाचन ठीक तरहसे न होना—अर्थात् उपयुक्त आहार और वायुका अभाव—ही इन रोगोंका मूल कारण है। पाचन ठीक तरहसे न होनेके कारण विजातीय द्रव्यके ढेर जमा होते जाते हैं जो अस्वस्थ शरीरमें तनाव उत्पन्नकर ताप बढ़ा देते हैं। खमीर बननेपर यह विजातीय द्रव्य गैसके रूपमें सारे शरीरमें, विशेषकर त्वचामें या उसके नीचे एकत्र हो जाता है। इसके कारण अच्छी अवस्थावाली धमनियोंका मार्ग बंद हो जाता है और उनमें रक्त नहीं पहुंच पाता। यही कारण है जिससे स्वस्थ व्यक्तिकी त्वचामें जो उष्णता होती है वह इन रोगियोंमें नहीं पायी जाती और चमड़ा पीला और मुरझाया हुआ देख पड़ता है।

इस स्थितिसे यह स्पष्ट है कि पाचनका ठीक न होना ही रक्ताल्पता तथा हरित् रोगका मुख्य कारण है। फुप्फुसोंकी निष्क्रियताके कारण शरीरको ताजी और शुद्ध वायुकी प्राप्ति भी नहीं हो पाती। दुर्भाग्यकी ही बात है कि औषधोपचारकोंके ठंढ लगनेका झूठा भय मनमें जमा देनेके कारण बहुत-से लोग अपने कमरोंमें स्वच्छ वायुका प्रवेश रोक देते हैं और हानिकर गंदी वायु ग्रहण करते रहते हैं। ये चिकित्सक अच्छी तरह जानते हैं कि फुप्फुस ही श्वासद्वारा शुद्ध वायु ग्रहणकर रक्तको स्वच्छ करते हैं, फिर भी रोगीको कमरेमें बंद रखकर उसे शुद्ध वायुसे किसी तरहका संपर्क न रखनेकी राय दी जाती है। इससे इस चिकित्सा-पद्धतिके निकम्मेपनका ऐसा स्पष्ट परिचय मिलता है कि इसकी कुछ व्याख्याकर देना आवश्यक जान पड़ता है।

एलोपैथिक चिकित्सक रोगके मूल कारणको नहीं पहचानते और विकृत द्रव्यको शरीरसे बाहर निकालनेका प्रयत्न न कर सिर्फ बाहरी

लक्षणोंको दबानेका प्रयत्न करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक रोग जीर्णावस्थामें परिणत हो जाता है। यह इन अनभिज्ञोंको लक्षित नहीं होता और इसे ही वे 'आरोग्य' कहा करते हैं; पर यह आरोग्य केवल बाहरी होता है, वास्तविक नहीं। इस ऊपरी या नकली आरोग्यका रहस्य निश्चयात्मक और अभ्रांत रूपमें जाननेकी विधि भी किसीको मालूम नहीं है। हां, मेरे आकृतिविज्ञानसे परिचित व्यक्तिको आसानीसे पता चल जायगा कि आरोग्य वास्तविक है या नहीं।

रक्ताल्पता तथा हरित् रोग दूर करनेके लिए अप्राकृतिक औषधों-का प्रयोग किया जाता है जिससे आंतोंपर दुष्पाच्य पदार्थोंका भार और बढ़ता तथा हालत बदतर होती जाती है। ये रोग शरीरको विजातीय द्रव्यसे मुक्त करनेपर ही अच्छे हो सकते हैं, औषधोपचारसे नहीं। औषधों-से, जिनमें रक्ताल्पताकी प्रशंसित दवा लौह भी है, आंत इस कदर कम-जोर हो जाती हैं कि मसालेदार चटपटी चीजोंके अलावा और कोई चीज खानेकी रुचि ही नहीं होती। इस तरहकी चीजें पचनेवाली नहीं होतीं और पाचनसंस्थानको इतना उत्तेजित कर देती हैं कि सच्ची भूख कभी लगती ही नहीं। इसपर औषधोपचार अच्छे पौष्टिक पदार्थ—मांस, अंडे, बलवर्धक मद्यके साथ और भी तेज दवा—खानेकी राय देते हैं। रोगी इस चिकित्सासे कोई लाभ न देखकर निराश होने लगता है और दयनीय अवस्थामें मेरे पास पहुंचता है। पहले ही सप्ताहमें इस औषधो-पचारकी गलतियोंका उसे पता चल जाता है और अरोग्य-लाभ होनेपर इस नवीन चिकित्सा-पद्धतिका भक्त बन जाता है।

ताजी, प्राकृतिक हवा—जैसी मैदानमें या खिड़कियां खुली रहनेपर कमरेमें भी पायी जा सकती हैं, शरीरको स्वस्थ बनाए रखनेके प्राकृतिक शक्तिके प्रयत्नमें जलकी ही तरह सहायक होती हैं। दुर्भाग्यकी बात है कि औषधोपचारक ठंढ लगनेके खतरेसे बचनेके लिए ताजी हवा और ठंढे पानीके जो सर्वाधिक महत्त्वके साधन हैं, परहेज करनेकी राय देते हैं। यह इस बातका प्रमाण है कि वे सर्दीके स्वरूपको कितना कम समझते

हैं। अंगोंको घोर क्षति पहुंचाये बिना सर्दीका सफलतापूर्वक सामना करनेमें समर्थ न होनेके कारण वे और कुछ करनेके पहले इसका प्रकट होना ही रोक देनेका प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए शरीरकी प्रतिक्रियात्मक शक्तिको ही दबा देनेका साधन प्रयोगमें लाते हैं।

पर जिन लोगोंने हमारे सिद्धांतोंका अध्ययन-मनन किया है उनकी दृष्टिमें सर्दी बिल्कुल निर्दोष लक्षण है और इसका स्वागत करना चाहिए। स्वस्थ व्यक्तिको कभी सर्दी नहीं हो सकती; क्योंकि उसका शरीर विजातीय द्रव्यसे रहित होता है, अगर किसीके शरीरमें विजातीय द्रव्य आ गया हो, पर उसका रहन-सहन प्राकृतिक है तो वह जानता है कि ठंढे पानी, ताजी हवा और अनुत्तेजक आहारके द्वारा वह स्वास्थ्य लाभ करनेमें समर्थ हो जायगा। इससे उसमें सहन शक्ति और आंतरिक स्वच्छता आ जायगी जो पहले उसमें नहीं थी। वह यह भी जानता है कि सर्दी—विशेषकर तापमानमें अचानक परिवर्तन होनेसे उत्पन्न होनेवाली सर्दी ताजी हवाके ही कारण होती है। इससे शरीरकी जीवशक्ति इस कदर बढ़ जाती है कि वह सर्दीके रूपमें आरोग्यात्मक उभारकी अवस्था प्रस्तुत कर देती है। इस अवस्थाके सहारे शरीर विजातीय द्रव्य बाहर निकालनेमें समर्थ हो जाता है। यही कारण है जिससे यह अवस्था शरीरको क्षति पहुंचानेके बजाय स्वस्थ बनानेमें सहायक हुआ करती है।

रक्ताल्पता तथा हरित् रोगवालोंका उपचार रोग और शारीरिक अवस्थाका खयाल रखते हुए करना चाहिए। नीचे एक व्यक्तिके उपचारका विवरण दिया जा रहा है जिससे साधारण नियमोंका कुछ ज्ञान हो जायगा।

उन्नीस वर्षकी एक लड़की पंद्रह वर्षकी ही अवस्थासे हरित् रोगसे पीड़ित थी। वह एलोपैथिक चिकित्सा करा रही थी। चिकित्सकने पहले वटिकाके रूपमें लौह दिया और उसके बाद पेयके रूपमें पेप्सिन

तथा अन्य द्रव्योंके साथ उसका मिश्रण दिया। उसने आहारके रूपमें मांस, शोरबा, अंडा, सुरा आदि पौष्टिक पदार्थ और कहवेके बदले खूब औटा हुआ दूध खानेको कहा और पानीमें संक्रामक कीटाणु होनेकी संभावना बतलाकर पानीकी जगह शक्तिवर्द्धक मद्य पीनेकी राय दी। वह डाक्टरकी रायके मुताबिक वर्षों चलती रही, पर कोई लाभ नहीं हुआ बल्कि उसकी हालत दिनोंदिन और खराब ही होती गयी—पाचन और भी खराब हो गया और पौष्टिक पदार्थ खाते हुए भी उसकी निर्बलता, हरीतिमा और खिन्नता दिनोंदिन बढ़ती गयी। इससे उसे यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि डाक्टरके नुस्खेसे कोई लाभ नहीं हो रहा है, फिर भी दोष उपचारका न मानकर अपने शरीरका ही मानती रही। उसकी धारणा थी कि उसकी अवस्था ही स्वास्थ्यलाभ करने योग्य नहीं है। कब्ज होते हुए भी पौष्टिक पदार्थ उसके शरीरके अंदरसे गुजरते थे, पर उनसे उसके शरीरको पोषण नहीं प्राप्त हो रहा था; क्योंकि उसका आमाशय बहुत कमजोर हो गया था। रजस्वला होनेके बादसे मासिक स्राव भी साधारण रूपमें न होकर अनियमित रूपमें होता था। वह चार वर्षोंतक एलोपैथिक उपचार चलाती रही, पर सुधार तो कहांतक होगा, उसकी अवस्था और भी दयनीय ही होती गयी।

मेरेपास आनेके समय दुरुपचारका शिकार यह लड़की विपन्न, निराश, क्षीण और अविश्वासपूर्ण अवस्थामें थी और उसका मस्तिष्क भी कमजोर हो गया था। उसका जीवन अपने तथा परिवारके लिए भार प्रतीत हो रहा था और आत्महत्याका विचार बार-बार उसके मनमें उठा करता था। मैंने उसका आहार फौरन बदल दिया—केवल सुपाच्य और अनुत्तेजक शाकाहार और पेयके रूपमें केवल जल देने लगा। उसे खुली हवामें व्यायाम करने, खिड़कियां खोलकर सोने, प्रतिदिन तीन बार ठंढा स्नान तथा सप्ताहमें दो बार वाष्प-स्नान करनेको कहा। एक ही सप्ताहमें उसकी मनोवृत्तिमें आमूल परिवर्तन हो गया, हर्ष और उल्लासने विषाद और नैराश्यका स्थान ग्रहण कर लिया। चार महीनेमें

पाचन और रजस्राव बहुत कुछ साधारण अवस्थामें आ गया और एक प्रकारसे उसे नवजीवन ही प्राप्त हो गया। विजातीय द्रव्य काफी अधिक निकल जानेपर उसकी त्वचा, जिससे कभी पसीना नहीं निकलता था, साधारण रूपमें उष्ण और आर्द्र हो गयी। छट महीनेमें उसकी हालतमें आश्चर्यजनक सुधार हो गया और एक सालमें वह पूर्णतः नीरोग हो गयी।

# आंख और कानके रोग

आंख और कान—दोनों ज्ञानेन्द्रियां कठिन रोगोंका शिकार हुआ करती हैं। उनपर सीधे असर डालनेवाली चीजें ही प्रायः इन रोगोंका कारण मान ली जाती हैं और कभी यह देखनेका प्रयत्न नहीं किया जाता कि इनकी जड़में कोई गहरा कारण है या नहीं। मेरी उपचार-विधिके प्रयोगोंसे जो अनुभव प्राप्त हुआ है उससे यह असंदिग्ध रूपमें स्पष्ट हो गया है कि आंख और कानके सभी रोगोंका मूल कारण आंतरिक जीर्ण रोग—रोहिणी, रोमांतिका, आरक्तज्वर जैसे किसी दबाये हुए रोगका रोगोत्तेजक अंश—होता है या टीका। मेरे आकृतिविज्ञानसे यह बात बिलकुल पक्की हो जाती है और उसकी सहायतासे यह भी साबित किया जा सकता है कि आंख या कानका कोई रोग प्रकट होनेकी अवस्थामें विजातीय द्रव्य शरीरमें अवश्य मौजूद रहता है। कहनेका अभिप्राय यह कि आंख या कानमें होनेवाले रोगोंका सीधा संबंध विजातीय द्रव्यसे होता है।

आंख या कानके रोगसे ग्रस्त व्यक्तिका और बातोंके लिहाजसे स्वस्थ होना सर्वथा असंभव है। इस प्रकारका रोग प्रकट होनेके पूर्व विजातीय द्रव्य शरीरमें रहा होगा जो अब रुग्ण भागमें पहुंच गया है। आकृति-विज्ञानके सहारे वर्षों पहले यह प्रक्रिया आसानीसे लक्षित की जा सकती है।

## कर्णस्राव

विजातीय द्रव्यके कानमें पहुंचनेपर सबसे पहले कर्णप्रणाली अव-रुद्ध होती है। इससे कर्णपटह प्रायः फट जाता है या ढीला पड़कर संवेदन-शून्य अर्थात् स्वरतरंगोंका प्रेषण करनेमें असमर्थ हो जाता है। इस अवस्थामें मध्यकर्णकी श्लैष्मिक कलामें प्रतिश्याय हो जाता है जो वहां

विजातीय द्रव्य एकत्र होनेका सूचक है। नीचेसे विजातीय द्रव्यका जोरदार दबाव होनेपर प्राय: तीव्रावस्था प्रस्तुत हो जाती है और तब कानके भीतरी भागमें पूय बनने लगता और खमीरके रूपमें विजातीय द्रव्य बाहर निकलने लगता है। जिसे 'कर्णस्राव' या 'कान बहना' कहते हैं। अगर प्राकृतिक विधिसे यह तीव्रावस्था जल्द ठीक न की जाय तो विजातीय द्रव्यका भार और बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप श्रवणेन्द्रियका नाश भी हो जाता है। औषधोपचारद्वारा रोग जितना भीतर दबाया जायगा उतना ही बुरा उसका परिणाम होगा।

जिन लोगोंने मेरी पहले दी हुई व्याख्याका अनुसरण किया है उन्हें यह भलीभांति स्पष्ट हो जायगा कि एक ओर कर्णस्राव और सिरकी सर्दी और दूसरी ओर सूजाक और प्रदर एक ही सामान्य कारणसे उत्पन्न होते हैं। इन विभिन्न रोगोंकी उत्पत्ति विजातीय द्रव्यसे ही होती है जो शरीरमें जमा होकर अन्तर्लीन अवस्थामें पड़ा रहता है और खमीर बननेकी तीव्र अवस्थामें पहुंचनेपर पूय या श्लेष्मा बन जाता है। खमीर बननेपर श्लैष्मिक कला साथ संबद्ध अंगमें प्रदाह उत्पन्न हो जाता है और प्रदाह अधिक होनेपर खुले तथा पूयवाले घाव और छोटे-छोटे व्रण भी हो जाते हैं। प्रदाहकी यह अवस्था शरीरके भीतरी भागोंमें, जिनका बाहरकी हवासे सीधा संबंध नहीं है, खास तौरसे देखी जा सकती है। हमारे लिए यह बड़े महत्त्वका विषय है; क्योंकि यह शरीरके भीतरी लदावका निश्चित चिह्न और इस बातका प्रमाण होता है कि शरीरमें उभारकी अवस्था प्रस्तुतकर विजातीय द्रव्यको बाहर निकालने योग्य पर्याप्त जीवशक्ति मौजूद है।

## आंखके रोग

आंखके रोगोंमें भी ठीक यही बात होती है। विजातीय द्रव्य अंदरके पारदर्शक रसमें भर जाकर उस अव्यवस्थित कर देता है जिससे दृष्टि क्षीण हो जाती है। 'निकट-दृष्टि' का यही कारण होता है। दूसरी अवस्था

में यह विजातीय द्रव्य अक्षकलामें प्रविष्ट हो जाता है जिससे आंखका पीलाबिन्दु तथा उसकी नाड़ियां ढक या अपने स्थानसे हट जाती हैं जिसे कृष्ण लिंगनाश या काला मोतियाबिन्द कहते हैं।

धूसर लिंगनाश भी कुछ इसी प्रकारके कारणसे होता है। पारदर्शक तालपर मोटी परत बन जाती है जो आंख तथा तालमें प्रविष्ट विजातीय द्रव्यके अलावा और कुछ नहीं है। ये अवस्थाएं लंबे अर्सेतक लदाव बने रहनेपर ही उत्पन्न होती हैं इसलिए यह रोग अधिक अवस्थावालोंको ही होता है।

हरित् लिंगनाश (धूसरमंथ), जिसमें नेत्रगोलकमें बहुत अधिक तनाव होता है, आंखमें पहुँचे हुए विजातीय द्रव्यके खमीर बननेसे होता है। औषधोपचारपद्धतिके अनुयायी रोगमुक्त करनेके प्रयत्नमें उपतारा (आयरिस) का कुछ अंश निकालकर शरीरकी जीवशक्तिको उसके आरोग्यदायक कार्यसे विरत कर देते हैं, पर मूल रोग ज्यों-का-त्यों छोड़ देते हैं। हां, इस शल्य-क्रियासे आंखकी अवस्थामें परिवर्तन अवश्य हो जाता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेपर शल्योपचारकी निरर्थकता बिलकुल स्पष्ट हो जाती है; क्योंकि उसका लक्ष्य रोगके मूल कारणका उन्मूलन न होकर केवल बाहरी चिह्नका लोप होता है। विजातीय द्रव्यके वहां न पहुँचनेतक यह उपचार सफल समझा जाता है, पर उसके स्थान या रूपमें परिवर्तन होनेपर—जिसके न होनेकी कोई संभावना नहीं—रोगके पुराने या नए लक्षण शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं।

व्यापक मिस्त्री (इजिप्शियन) नेत्ररोग भी, जो बच्चोंको विशेष रूपसे होता है, विकृत द्रव्यके खमीरके अलावा और कुछ नहीं है। यह द्रव्य, जो प्राय: पैतृक होता है, किसी कारणसे क्षुब्ध होनेपर प्रदाह उत्पन्न कर देता है जिसके दूर होनेमें बहुत समय लगता है और इसके उपचारमें बड़े धैर्यकी आवश्यकता होती है।

आठ वर्षका एक छोटा बच्चा इस रोगसे पीड़ित था। उपचारमें

एट्रोपियाका तो काफी मात्रामें प्रयोग किया ही गया था, नश्तर भी लगाया गया था। विभिन्न चिकित्सालयोंमें चार वर्षोंतक उसका उपचार चलता रहा, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अंतमें चिकित्सकोंने यह निर्णय किया कि लड़केको मस्तक शोथ (हाइड्रोसिफेलस) रोग है और कुछ कर सकना संभव नहीं है। मेरे पास लाये जानेपर आकृतिविज्ञानके सहारे मैंने यह निश्चय किया कि उसका असाधारण बड़ा सिर और नेत्रगोलकका प्रदाह किसी ऐसे पूर्ववर्ती रोगका परिणाम है जो अच्छा न कर दबा दिया गया है। विजातीय द्रव्यका स्थान पृष्ठ-भाग होनेके कारण मैंने उसकी मातासे साफ-साफ कह दिया कि आरोग्यलाभके लिए बहुत अधिक अध्यवसाय आवश्यक होगा। अनुत्तेजक आहार और रोज तीन-चार बार ठंडे स्नानोंका क्रम चलाया जाने लगा। एक ही सप्ताहमें प्रदाह कम हो गया और लड़का कुछ-कुछ आंख खोलने भी लगा जो पहले असंभव था। उसकी आंत साफ हो गयी और पाचन भी बहुत कुछ साधारण हो गया। पंद्रह दिन उपचार चलानेपर प्रकाशसे आंखोंका क्षुब्ध होना बंद हो गया। चौथे सप्ताहमें उसे आरक्तज्वर हो गया, पर शरीरमें इतनी जीवशक्ति लौट आयी थी कि यह आरक्तज्वर, जो चार वर्षकी अवस्थामें हुआ था और दबा दिया गया था, बना रह सका। ज्वर हट जानेपर आंखोंका प्रदाह और मस्तकशोथ भी जाता रहा।

## द्विदृष्टि और अपांगदृष्टि

द्विदृष्टिका कारण ताल और पीले बिंदुके बीच या सीधे ताल या पुतलीपर विजातीय द्रव्यका एकत्र होना है। मेरी विधिसे इस रोगका उपचार करनेपर प्रायः ऐसा होता है कि विजातीय द्रव्यके परावर्तन तथा इसके कारण शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंसे दृष्टिकी स्वच्छता, द्विदृष्टि और आंशिक या पूर्ण मंतदा भी बारी-बारी से आती रहती है।

अपांगदृष्टि नेत्रगोलकके चारों ओर घूमनेवाली पेशियोंपर विजातीय द्रव्यके एकत्र होनेसे होती है। विजातीय द्रव्य या तो किसी पेशीमें

एकत्र हो जाता है या उसका मार्ग रोक देता है जिससे वह स्थिर, तनाव-दार, मोटी और प्रायः अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती है। इससे पेशीकी लोच जाती रहती है और तनाव आ जानेके कारण नेत्रगोलकके चारों ओरकी पेशियोंसे वह छोटी हो जाती है। यह भारग्रस्त पेशी आंखको एक ओर खींचकर उसे अपने प्राकृतिक स्थानसे हटा देती है। औषधोपचारपद्धतिके अनुयायी इस पेशीको ही निकालकर इस प्रकारके रोगोंके संबंधमें अपने अज्ञानका ही परिचय देते हैं। पेशीपरसे विजातीय द्रव्यको हटाकर प्राकृतिक रूपमें यह रोग आसानीसे दूर किया जा सकता है।

आंखोंकी नाड़ियां गुच्छेके रूपमें एक दूसरीको पार करती हुई सिरमें पहुंचती हैं जिससे बायीं आंखकी नाड़ियां सिरमें दाहिनी ओर रहती हैं और दाहिनी आंखकी बायीं ओर। नाड़ियोंकी इस स्थितिके कारण बायीं ओर लदाव होनेपर दाहिनी आंखमें और दाहिनी ओर होनेपर बायीं आंखमें रोग हो सकता है।

इस स्थलपर आंखके सभी रोगोंपर, जिनमें आजकलके विशेषज्ञ साव-धानीके साथ अंतर किया करते हैं, विचार करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती; क्योंकि इन सबका एक ही सामान्य कारण होता है—विशेष भागका विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त होना। हां, एक बातका उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह कि हर हालतमें लदावका रूप भिन्न हुआ करता है इसलिए लक्षणोंमें भी भिन्नता पायी जाती है। इसके अलावा लोगोंमें विजातीय द्रव्यका भार बढ़ते जानेके कारण नये-नये रोग पैदा होते ही जा रहे हैं। यही कारण है जिससे डाक्टरोंका रोगोंके वर्गीकरण-का कार्य कभी पूरा नहीं हो पाता; नित्य नये रोग उत्पन्न होते रहेंगे और उनके लिए नामों तथा दवाओंकी भी जरूरत पड़ती रहेगी। हम लोगों-के लिए आंख और कानके रोगोंमें पाये जानेवाले लक्षणोंमें अंतर हो का कोई महत्त्व नहीं है। हम जानते हैं कि इनमेंसे प्रत्येक रोगका एक हो उपचार—विजातीय द्रव्यको परिवर्तितकर प्राकृतिक मलमार्गोंसे बाहर

निकालना है। इसके लिए अगर ठंढे स्नानों और अनुत्तेजक आहारके साथ स्थानिक वाष्पस्नानका भी सहारा लिया जाय तो विशेष लाभ होता है।

अगर अंगोंका नाश न हुआ हो तो मेरी विधिसे प्रदाहयुक्त तीव्रावस्था बहुत जल्द—कुछ ही दिनोंमें—ठीक की जा सकती है। इस अवधिमें पीड़ा और उसके साथ ही स्थायी रूपसे खराबी आनेका खतरा अवश्य ही दूर हो जायगा और इसके पश्चात् कुछ दिनों या कुछ हफ्तोंमें पूर्ण आरोग्य-लाभ हो जायगा। अगर चक्षुरिंद्रिय और श्रवणेंद्रिय आंशिक रूपसे नष्ट भी हो गयी हों तो आरोग्यलाभ नहीं तो उनकी अवस्थामें कुछ सुधार अवश्य हो जायगा। यह सुधार आजीवन बना रहेगा और इंद्रियां कुछ काम भी देती रहेंगी।

आंख और कानके जीर्ण रोगोंके—जिनके साथ दूसरे कठिन रोग भी होते ही हैं—दूर करनेके लिए अधिक समय और अध्यवसाय आवश्यक है। इस प्रकारके रोग प्रायः बाल्यावस्थामें दबाये हुए रोगोंके कारण होते हैं। ऐसे रोगोंके उपचारमें, विजातीय द्रव्यकी स्थितिके अनुसार महीनों या वर्षों लग जा सकते हैं। यही कारण है जिससे एक ही रोगसे पीड़ित देख पड़नेवाले दो व्यक्तियोंके नीरोग होनेमें बराबर समय न लगकर एकका दूसरेसे दूना या तिगुना समय लग जाता है।

एक लड़का नौ वर्षकी ही अवस्थासे उपदंशसे पीड़ित था। उसकी बायीं आंख विशेष रूपसे ग्रस्त थी और प्रदाह अधिक होनेके कारण उसके नष्ट हो जानेका खतरा पैदा हो गया था। उसके शरीरमें विजातीय द्रव्य बहुत अधिक परिमाणमें एकत्र था जो उसके असाधारण बड़े सिरसे साफ-साफ प्रकट हो रहा था। इसी भारी दबावके कारण वह उपदंश और नेत्ररोगसे पीड़ित था। औषधोपचार-पद्धतिके भक्तोंने आंखमें एट्रोपियाका (जो स्ट्रामोनियम और बेलाडोना—जैसे विषैले पदार्थोंसे पैयार किया जाता है) खुलकर इस्तेमाल किया था जिससे आंखकी हालत सुधरनेके बजाय और खराब हो गयी थी; क्योंकि उसमें बाहरी विजातीय द्रव्य भी पहुंचा दिया गया था जो स्वयं आंखको कमजोर करनेके लिए काफी था।

छह महीने एट्रोपियाका प्रयोग होनेपर आंख बिलकुल अंधी हो गयी। लाचार हो पिता लड़केको मेरे यहां ले आया। मैंने आंखकी कोई स्थानिक चिकित्सा न कर केवल ठंढे स्नानों और अनुत्तेजक आहारद्वारा मलमार्गोंको उत्तेजित किया। एक ही सप्ताहमें हालत सुधरने लगी और छट सप्ताहोंमें उपदंश ही नहीं, आंखका रोग भी चला गया। अब कोई नहीं कह सकता था कि लड़केकी कौन-सी आंख अंधीं थी। उसकी दृष्टि तो पूरी तरह लौट ही आयी, उसका साधारण स्वास्थ्य भी पहलेसे बहुत अच्छा हो गया।

साठ वर्षकी एक महिलाकी बायीं आंखमें धूसर लिंगनाश होनेपर नश्तर लगाया गया जो 'सफल' कहा गया, पर उसी समयसे उसकी यह आंख बिलकुल अंधी हो गई। दाहिनी आंखमें लिंगनाश होनेपर शल्योपचारके लिए उसके पकनेकी—सारा मकान अग्निकी लपटमें आ जानेकी-प्रतीक्षा करनेको कहा गया। आग लगनेके समय ही, जब कि उसकी लपट ज्यादा नहीं फैली होती और आसानीसे काबूमें लायी जा सकती है; बुझाना औषधोपचार-पद्धतिवालोंने अभी सीखा ही नहीं है। पहले नश्तरके समयसे ही इस स्त्रीका इस पद्धतिपरसे विश्वास उठ गया था इसलिए उपचारके निमित्त वह मेरे यहां आयी। उसकी दृष्टि इतनी मंद हो गयी थी कि आकृति उसे सिर्फ छाया—जैसी जान पड़ती थी और पास ही खड़े व्यक्तिके संबंधमें इतना भी नहीं कह सकतीं थीं कि वह स्त्री है या पुरुष। विजातीय द्रव्य शरीरमें गहराईतक पहुंचा हुआ था और उसका कारण था बचपनमें हुआ गलक्षत जो अच्छा नहीं किया गया था। 'निकटदृष्टि' रोग तो उसे उसी समय हो गया था और यह लिंगनाश उसका अंतिम परिणाम था। एक ही महीनेमें उसकी हालतमें यहांतक सुधार हो गया कि वह बड़े-बड़े अक्षर पढ़ने लगी और स्वास्थ्य भी काफी अच्छा हो गया। अब उसके मनमें नैराष्य और विषादकी जगह आशा और हर्षका संचार हो गया—एक प्रकारसे उसका कायापलट ही हो गया। हर हफ्ते उसकी दृष्टि साफ और सबल होतीं गयी और छह महीनेमें वह पूर्णतः नीरोग हो गयी। शीघ्र आरोग्य-लाभका कारण यह

हुआ कि विजातीय द्रव्य आगेके ही भागमें था; अगर पीछेकी ओर होता तो छह मासकी जगह शायद छह साल लग गये होते। अफसोसकी बात सिर्फ यह थी कि डाक्टरकी फोड़ी हुई आँख सर्वदाके लिए चली गयी थी।

सैंतीस वर्षका एक व्यक्ति भयंकर कर्णस्रावसे वर्षोंसे पीड़ित था और छह माससे बायें कानसे जरा भी नहीं सुन पा रहा था। औषधोपचारसे कोई लाभ न होनेपर वह मेरे यहां आया। आकृति-निदानसे यह स्पष्ट हो गया कि रोगका कारण पाचनकी खराबी है। मैंने उसे रोज दो-तीन बार कटि और मेहनस्नानके साथ अनुत्तेजक आहार चलाते हुए बदन ढक कर या व्यायामद्वारा पसीना निकालने और कमरेकी खिड़कियां खुली रखकर सोनेको कहा। सत्रह दिनोंमें कर्णस्राव और बहरापन दूर हो गया, दूसरे पखवारेमें कानोंकी झनझनाहट भी जाती रही और कुछ दिनों-तक उपचार चलानेपर वह बिलकुल चंगा हो गया।

एक चौबीस सालके व्यक्तिको बचपनमें रोमांतिका निकली थी पर उसे दवासे दबाकर विकृत द्रव्य फिर अंदर पहुंचा दिया गया जिसके परिणामस्वरूप रोग जीर्णावस्थामें पहुंचकर क्रमशः क्षीणता आदिका रूप धारण करता रहा। अंतमें सिरकी दिशामें विकृत द्रव्यके दबावके कारण यह व्यक्ति अंशतः बहरा भी हो गया। उसने सब तरहका उप-चार करके देखा, पर किसीसे कोई लाभ नहीं हुआ

अंतमें कुछ मित्रों और परिचितोंके कहनेसे उसने मेरी पद्धतिकी आज माइश करनेका निश्चय किया। उससे भी मेहन और कटिस्नान, अनुत्तेजक आहार, स्थानिक बाष्पस्नान आदिका प्रयोग कराया गया और बहुत थोड़े समयमें ही आरोग्य-लाभ हो गया। रोगीकी युवावस्था और उस समयकी ऋतुने भी आरोग्य-लाभमें सहायता की। पीछे उसके पत्रसे मालूम हुआ कि उसकी श्रवण-शक्ति तो साधारण हो ही गयी उसके पतले पड़े हुए बाल भी मोटे हो गये और ऋतु-परिवर्तनके कारण बार बार होने वाली सर्दीने भी उसका पिंड छोड़ दिया हैं। आहारका क्रम नियमपूर्वक न चलाने और पहलेसे कुछ दुबला-पतला हो जानेपर भी स्फूर्ति बराबर बनी रहती है,

काम करनेकी पूरी शारीरिक और मानसि शक्ति आ गयी है और अनिद्रा भी अब बिलकुल चली गयी है।

उपर्युक्त सफलताएं बिलकुल साधारणसे प्राप्त कीगयी—न तो किसीको नश्तर लगाना पड़ा और न किसी तरहकी दवाका प्रयोग किया गया और यह सब इसलिए संभव हुआ कि सभी रोगोंका मूल कारण एक ही होता है ।

# दंतरोग, सिरकी सर्दी, वातकफज्वर, कंठरोग और गलगंड

इन रोगोंकी उत्पत्तिके कारणोंका पहले भी कई बार उल्लेख किया जा चुका है। दांतोंका खोखलापन और दर्द विजातीय द्रव्यके अधिक भार के निश्चित चिह्न हैं। ये रोग विजातीय द्रव्यके सिरकी ओर बढ़नेपर और प्रायः एक विशेष स्थितिमें—आगे और पार्श्वकी ओरसे ऊपर बढ़ने-पर—ही उत्पन्न होते हैं। दांतोंपरके रुचक (इनामेल) या अस्थिमें इतना कड़ापन नहीं होता कि दांत विजातीय द्रव्यके लगातार दबावको बराबर बर्दाश्त करते रह सकें। वे क्रमशः मुलायम पड़कर सड़ी हुई डालकी तरह गल जाते हैं। जब-तब दर्द मालूम होनेका कारण खमीरकी क्रियासे उत्पन्न होनेवाला उत्ताप और घर्षण होता है। मेरे उपचारमें दांतका दर्द प्राय: उभड़ आता है। ऐसा भी हो सकता है कि जिन लोगोंको पहले कभी दांतमें दर्द नहीं हुआ है उन्हें भी कुछ कालके लिए उपचार-कालमें दर्द हो जाय; क्योंकि विजातीय द्रव्यके पीछे हटते समय दांतोंपर भी असर होता है। वातरोगमें भी यही बात होती है, दांतको निकलवा देना मूर्खता है; इससे सिर्फ अंगभंग होता है, दांतके दर्दका कारण कभी दूर नहीं होता। मेरी विधिसे और रोगोंकी तरह ही दांतका दर्द भी चला जाता है। कटि और मेहनस्नानके अलावा सिरका वाष्पस्नान और उसके बाद फौरन कटिस्नान बहुत लाभदायक होता है। शरीरमें गर्मी लानेके लिए खूब टहलना—भरसक धूपमें टहलना ठीक होता है। प्रायः एक ही बार स्थानिक वाष्पस्नानके बाद कटिस्नान करना इस दर्दसे छुटकारा पानेके लिए काफी होता है; अगर एक बारमें दर्द न जाय तो इस दोहरा देना चाहिए। मेरा उपचार करनेवालोंको विजातीय द्रव्यके

दांतोंसे होकर बाहर न निकलनेतक ही दांतका दर्द हो सकता है। इस स्थलपर दांतोंकी सफाईके संबंधमें भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। दांतोंपर नीले रंगका श्लेष्मा बराबर जमा होता रहता है जो कड़ा पड़कर पपड़ी बन जाता है। मैं तो यही कहूंगा कि दांतोंकी सफाई करना उन्हीं लोगोंके लिए अनिवा-र्यतः आवश्यक है जो अस्वस्थ हैं या विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त हैं। स्वस्थ जानवरोंकी तरह स्वस्थ व्यक्तियोंको भी इसकी कम ही आवश्यकता पड़ती है। स्वस्थ जानवरोंके दांत स्वस्थ और चमकीले—सफेद होते हैं, उनपर पपड़ीका कहीं निशान भी नहीं होता; पर जिसका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ है—दूसरेशब्दोंमें, जिसका पाचन साधारण अवस्थामें नहीं है—उसके दांतोंपर श्लेष्मा और पपड़ी अवश्य पायी जायेगी; क्योंकि ये दोनों असाधारण पाचनके ही परिणाम हैं। श्लेष्मा और पपड़ी विजातीय द्रव्यका ही परिवर्तित रूप है जो उदरसे ऊपरकी ओर बढ़कर दांतोंपर जमा हो जाता है।

इससे तथा दांतोंके अन्य रोगोंसे तभी छुटकारा मिल सकता है जब शरीरमें विजातीय द्रव्यका बनना बंद हो जाय। अगर दांत पहलेसे ही खोखले और क्षीण अर्थात् नष्ट हो गये हों तो उनको नया नहीं बनाया जा सकता, पर इन कीलोंका जबड़ोंमें कायम रहना अच्छा ही होता है। ऐसे दांतोंको शरीरके लिए अहानिकर बनानेमें प्रकृति मनुष्यकी अपेक्षा अधिक कौशलसे काम लेती है। जो बचाये जा सकें उन्हें द्रव्य बचाये रखना चाहिए। जिसमें जबतक संभव हो उनसे चबानेमें सहायता ली जा सके; केवल ऐसे दांत निकलवाये जायं जो हिलने के कारण चबानेके कार्यमें बाधक हो रहे हों और उनकी जगहपर नकली दांत लगा दिये जायं। दांतोंका सबसे पहले क्षीण होना और उनमें दर्द होना ही मेरे खमीर संबंधी सिद्धांतकी सत्ताका प्रबल प्रमाण है। दांत ही ऐसी अस्थियां हैं जो शरीरसे बाहर निकली हुई हैं और पेशियोंसे ढकी नहीं हैं। अगर विजातीय द्रव्य खमीरमें परिणत होगा तो इन बाहर निकली हुई अस्थि-योंपर ही खमीरकी क्रियाका विशेष रूपसे प्रभाव पड़ेगा। अंगोंके अग्रभाग-

में ही खमीर क्रिया जोरोंसे चलती है और दांत इसी तरहके अग्रभाग है। अगर वे मांससे ढके होते तो खमीरका प्रभाव पहले मांसपर ही पड़ता।

## सिरकी सर्दी

सिरकी सर्दीमें श्वासनलिकामें कुछ प्रदाह हो जाता है और इसका कारण ठंढ लगना माना जाता है। पहले भी इसकी कुछ व्याख्या की जा चुकी है। जिन लोगोंके शरीरमें विजातीय द्रव्य भरा है वे ही ठंढ लगने-से रोगग्रस्त होते हैं, स्वस्थ व्यक्ति नहीं। सिरकी सर्दी भी दांतके दर्द-जैसा ही इस बातका सूचक है कि विजातीय द्रव्य फुफ्फुसोंमें पहुंचनेके अनंतर इस अंगमें पहुंच गया है। एक अर्थमें यह फुफ्फुसोंकी सफाईकी प्रक्रियामात्र है।

मेरा उपचार चलाते समय अधिक-से-अधिक समयतक खुली हवामें रहने और खिड़कियाखुली रखकर सोनेसे सर्दीका कष्टकर रूप समाप्त हो जाता है और वह शांत पडकर जल्दी ही चली भी जाती है। वातकफज्वर (इन्फ्लुएंजा) में भी यही बात होती है।

## वात-कफज्वर

१८९० में, जब इस रोगने महामारीका रूप धारण कर लिया था इस रोगसे आक्रांत बहुत-से व्यक्तियोंने मेरे उपचारसे अच्छा लाभ उठाया। कटि और मेहनस्नान तथा सारे शरीर और विशेष भागके वाष्पस्नानकी प्रभावकारिता भी उस समय भलीभाँति प्रमाणित हो गयी। इन स्नानोंके साथ अनुत्तेजक आहार भी रखा गया था। खराब पाचन ही और रोगोंकी तरह इसका भी वास्तविक कारण था और यह खराबी उदरमें विकृत द्रव्य एकत्र होनेसे ही पैदा हुई थी। इस रोगमें ज्वर होनेका कारण भी इस तरह स्पष्ट हो जाता है। ठंढ लानेवाले स्नानोंके बाद आश्चर्यजनक रूपमें सुधार देख पड़ा। कारण यह था कि ऋतु-परिवर्तनकी वजहसे खमीर बना हुआ विजातीय द्रव्य शीघ्र ही बाहर निकल गया। बहुत

कम समयमें, यहांतक कि एक-एक दिनमें लोगोंको आरोग्य लाभ हुआ। इसमें औषधोपचारके परिणामस्वरूप होनेवाले कठिन रोगोंके होनेकी कोई आशंका भी नहीं थी।

## गलेके रोग

उपचारके लिए मेरे यहां बहुत बड़ी संख्यामें रोगियोंके आनेसे मैं इस नतीजेपर पहुंचा हूं कि गलेके रोग इधर कुछ वर्षोंमें बहुत बढ़े हैं। औषधोपचारक स्थानिक उपचारद्वारा इन रोगोंसे छुटकारा दिलानेका प्रयत्न करते हैं। इससे रोग जीर्णावस्थामें परिणत हो जाता है; क्योंकि विकृत द्रव्यको दबाकर अंदर पहुंचा देनेसे आरोग्य-लाभमें किसी तरहकी सहायता नहीं मिल सकती।

गलेके रोग अंदरके लदावके सूचक होते हैं, इसलिए फुप्फुसोंके विकारग्रस्त होनेपर ही इन रोगोंका होना संभव है। पैतृक विजातीय द्रव्य भी गलेके रोगोंका कारण हुआ करता है।

इन रोगोंमें होता यह है कि विजातीय द्रव्य खमीर बननेपर नीचेसे ऊपरकी ओर बढ़ता है। सिर और धड़के बीच संकीर्ण मार्ग होनेके कारण गलेकी ओरसे इसका बहुत प्रतिरोध होता है इसलिए सिरके विकारग्रस्त होनेके पहले गलेको ही भुगतना पड़ता है। इस प्रकार आकृति-विज्ञानकी दृष्टिसे गलेकी स्थितिका विशेष महत्त्व है।

गलेके रोगका—चाहे वह स्वरभंग हो या गलेका प्रदाह या स्वर-यंत्र या मुखकंठका प्रदाह और चाहे जो भी उसका नाम हो—अच्छा होना विजातीय द्रव्यके भारके रूपपर ही निर्भर होता है। वंशानुगत जीर्ण रोगके उपचारमें महीनों और वर्षों भी लग जा सकते हैं।

## गलगंड

पहाड़ी प्रदेशमें रहनेवालोंको यह रोग विशेषरूपसे हुआ करता है। इसका कारण प्रायः अधिक बोझ ढोना माना जाता है। शरीरपर बाहर-

का दबाव—भारी बोझ ढोना—गलगंडकी उत्पत्तिका कारण हो सकता है फिर भी इस रोगका एक और ही कारण है। ऊपरसे साफ और शुद्ध दिखनेवाले पहाड़ी पानीका प्रायः बुरा प्रभाव होता है। चट्टानों और भू-भागसे होकर प्रवाहित होते समय यह प्रायः खनिज द्रव्यों (सीसा, तांबा आदि, को ग्रहण कर लेता है। ये द्रव्य ऊपरसे नहीं देख पड़ते, पर शरीर-में पहुंचनेपर विशेषकर उन लोगोंके शरीरमें, जो इस पानीका बराबर उपयोग करते हैं, गड़बड़ पैदा कर देते हैं। एक साधारण परीक्षणसे ह बात स्पष्ट हो जायगी। ऊपरसे साफ दिखनेवाला यह पानी अगर कुछ देरतक धूपमें रहने दिया जाय तो धीरे-धीरे तलछट जमा होने लगेगी। ये विजातीय द्रव्य शरीरके एक विशेष भागमें जमा होकर गलगंडकी उत्पत्तिमें सहायक होते हैं।

जिन लोगोंका शरीर विजातीय द्रव्यका, विशेषकर पसीनेके रूपमें, बाहर निकालते रहनेकी अवस्थामें होता है वे रोगसे मुक्त रहते हैं। पर जिनका शरीर ऐसा नहीं है, रहन-सहन का तरीका सही नहीं है या पाचन खराब है उनके शरीरसे प्राकृतिक रूपमें मलका निकलना बंद हो जाता है, पानीमेंका न पचनेवाला पदार्थ खमीरकी क्रिया उत्पन्न कर देता है जिससे विजातीय द्रव्य ऊपर बढ़कर गलेमें एकत्र हो जाता है और गल-गंडकी सृष्टि करता है। गलगंड बाहरकी ओर न होनेपर कोई कष्ट नहीं होता, सामने और बगलकी ओर वृद्धि होनेपर कुछ असुविधा भर होती है। रोगके इस रूपमें खतरा भी बहुत कम होता हैं, पर अगर स्वरयंत्रकी क्रियामें बाधा पड़ने लगे तो रूप गंभीर हो जाता है। जिन लोगोंका जीवन सादा और शांत है उनमें तो हानिकारक द्रव्योंवाला यह पानी गलगंड ही उत्पन्न करता है, पर जिनका मस्तिष्क उत्तेजनशील होता हैं उसमें यह मानसिक उत्तेजना उत्पन्न कर देता है।

ताजे ठंडे पानीको स्वास्थ्यकर मानना भूल है। पानीका कड़ा होना उसके दुष्पाच्य होनेका प्रबल प्रमाण है। परीक्षणसे यह सिद्ध हो चुका है कि बहता हुआ और धूप खानेवाला तथा बर्षाका पानी ही मनुष्यके उपयोग-

के लिए सबसे अच्छा होता है। कड़े ताजे पानीमें पौधों और फूलोंकी बाढ़ अच्छी नहीं होती। धूपकी रासायनिक क्रियासे ही यह पानी अपाच्य विजातीय द्रव्योंसे मुक्त हो सकता है।

प्रकृत्या मनुष्यके लिए पानी पीना अनिवार्य भी नहीं है। अगर भोजन सादा और प्राकृतिक हो तो प्यास लगेगी ही नहीं। अगर प्यास लगे भी तो पानीकी अपेक्षा रसदार फल अच्छे होते हैं।

एक महिला बहुत दिनोंसे आमाशयके रोगसे ग्रस्त थी। बादमें उसे गलगंड हो गया और कुछ कालके बाद सांस लेनेमें भी उसे तकलीफ होने लगी। मेरे उपचार, विशेषकर ठंढ लानेवाले स्नानसे सांस लेनेकी तकलीफ कम हो गयी और विजातीय द्रव्यका परावर्तन आरंभ हो गया जिससे गलगंडकी जगहका चमड़ा मुलायम हो गया और उसका आकार भी छोटा हो गया। दूसरे सप्ताहमें तो गलगंड़का कोई चिह्न भी नहीं रहा।

# शिरःशूल, अर्द्धकपाली, भेजेका क्षय और प्रदाह

इन कई रोगोंका, जिनमें औषधोपचारक बड़ी सावधानीके साथ भेद किया करते हैं, एक साथ रखा जाना यों देखनेपर अजीब-सा ही मालूम होगा; क्योंकि लोग जहां कष्ट होता है वहीं रोगका कारण ढूंढने-के आदी हो गये हैं। सिरके रोगोंमें तो यह और बड़ी भूल है। कारण यह है कि इन रोगोंका उद्गमस्थान सिर न होकर उदर हुआ करता है। आकृतिविज्ञानके विशेषज्ञ इन रोगोंके प्रकट होनेके बहुत पहले ही उनकी प्रगति तथा प्रकट होनेकी अवस्थाकी पहचान कर ले सकते हैं। दाहिनी या बायीं ओरकी अर्द्धकपालीकी और उसीकी तरह भेजेके प्रदाह और क्षयकी पूर्वप्रवृत्तिका निश्चय वर्षों पहले किया जा सकता है। अनुभवसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि दाहिनी या बायीं ओर एकत्र विजातीय द्रव्यके ऊपरकी ओर बढ़कर सिरमें पहुंचनेपर ही अर्द्धकपाली होती हैं। सिरके कठिन रोग—यथा, भेजेके प्रदाह और क्षय—पृष्ठभागमें एकत्र विजातीय द्रव्यके कारण होते हैं। सिरके रोगोंसे ग्रस्त लोगोंमें वर्षों पहलेसे ही कब्ज या क्षयके रूपमें पाचनकी खराबी देख पड़ती है। इसके अनंतर अर्श और उदरमें गांठें प्रकट होती हैं। कभी-कभी उदरके अर्बुद या गांठें एकाएक गायब हो जाती हैं और मनुष्य सिरके रोगसे आक्रांन्त हो जाता है। ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेवालेको ऐसे व्यक्तिके सिरमें निश्चित रूपमें परिवर्तन लक्षित होते है। उदरमें जो अर्बुद देख पड़ते थे वे ही अब सिरमें देख पड़ेंगे, पर ये उदरके अर्बुदोंसे आकारमें बहुत छोटे पर उनसे कड़े होंगे। बहुतसे रोगियोंमें ये गांठें सिरके पिछले भागमें दोनों ओर बाहरसे ही देखी और मालूम की जा सकती हैं।

शरीर सारे विजातीय द्रव्यको सिरकी गांठोंमें पहुंचानेमें समर्थ नहीं

होता। अगर खमीर काफी तेज न हो तो विकृत द्रव्य गर्दनमें, बाहुओंके नीचे या सीनेमें रह जाकर गांठोंका रूप धारण कर लेता है; पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विजातीय द्रव्य गोल, कड़ी गांठोंके रूपमें ही उदरसे ऊपरकी ओर बढ़ता है। शरीर इस द्रव्यको एक भागसे उड़ाकर दूसरे भागमें जाने योग्य गैसके रूपमें परिणत कर देता है। शरीरमें बननेवाला खमीर अंगोंके अग्र भागकी ही ओर बढ़ा करता है, इसलिए गांठोंमेंका द्रव्य खमीर बननेपर सिरकी ओर बढ़ता है और भीतरका कोई अंग उसे रोकनेमें समर्थ नहीं होता। अगर यह विजातीय द्रव्य पुनः सिरमें एकत्र होकर यक्ष्मिकाओं (ट्यूबर्किल्स) का रूप धारण कर ले तो इसे ही औषधोपचारक 'भेजेका क्षय' कहते हैं। जहां पहले उदरदेशमें विशेषकर, वंक्षणमें अर्शके या और प्रकारके अर्बुद देख पड़ते थे, वहां अब सिरमें यक्ष्मिकाएं प्रस्तुत हो गयी हैं। आरोग्यलाभकी क्रिया चलते समय इनका जो रूप देख पड़ता है उससे भी मेरे कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जाती है। मेरे ठंढ लानेवाले स्नानोंके परिणामस्वरूप विजातीय द्रव्यका परावर्तन आरंभ होनेपर सिरकी यक्ष्मिकाएं तितर-बितर होकर पुनः उदरकी गांठोंके रूपमें देख पड़ने लगती है। इनको छिन्न-भिन्नकर बाहर निकाल देनेपर ही सिरके रोगसे छुटकारा मिल सकता है; पर इससे यह न मान लें कि अर्शके प्रत्येक रोगीमें शिरशूलकी प्रवृत्ति होगी ही। मुझे तो अर्शके कुछ ऐसे भी रोगी मिले हैं जिन्हें जीवनमें कभी शिरःशूल हुआ ही नहीं। इसका एकमात्र कारण है विजातीय द्रव्यकी स्थितिमें अंतर होना।

सामने या पार्श्वमें विजातीय द्रव्य एकत्र हो तो यह सिरकी ओर जल्द नहीं बढ़ता, अगर बढ़ने भी लगे तो गर्दन और फुफ्फुसोंमें ही रुककर गांठों और यक्ष्मिकाओंका रूप ग्रहण कर लेगा। पृष्ठभागमें एकत्र विजातीय द्रव्यसे बनी गांठोंके रोगोंकी अपेक्षा इन स्थानोंमें एकत्र विजातीय द्रव्यके कारण उत्पन्न हुए रोग ज्यादा आसानीसे अच्छे होते हैं। आकृतिविज्ञानके सहारे बहुत दिन पहले ही यह पता चल जाता है कि

विजातीय द्रव्य या गांठें किस मार्गसे सिरकी ओर बढ़ सकती हैं। अगर मार्गमें कहीं रुकावट न पड़े और भेजेमें गांठें बन जायें तो भेजेके प्रदाहके अनुकूल अवस्था प्रस्तुत हो जाती है। अगर विजातीय द्रव्यमें हलचल—खमीर बननेकी क्रिया या उसका इधर-उधर हटना—शुरू हो जाय तो स्वभावतः तेज ज्वर हो जायगा। इसी अवस्थाको हमारे विद्वान् औषधोपचारक 'भेजेका प्रदाह' कहते हैं, पर जहांतक रोगसे मुक्ति दिलानेका प्रश्न है, उनसे कुछ करते-धरते नहीं बनता, मुँह ताकते रह जाते हैं। इस विवेचनसे यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि सिरके रोगोंका उदरसे क्या संबंध है। मैं तो यह मानता हूँ कि भेजेका क्षय और प्रदाह ही नहीं, शिरःशूलतक जितने भी छोटे-मोटे रोग हैं सबका उद्गमस्थान उदर ही है। अंतर सिर्फ यह है कि छोटे रोगोंमें उदरका विकार बहुत अधिक नहीं होता, पाचनसंबंधी मामूली खराबियां होती हैं। शिरःशूलके जल्द दूर हो जानेका यही कारण होता है।

सिरके रोगों—अर्द्धकपाली, शिरःशूल, भेजेका प्रदाह और क्षय—में मेरी पद्धतिकी सफलता स्पष्ट रूपसे देखी जा सकती है। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन सभी रोगोंका एक ही सामान्य कारण होता है, और उसका आधार है उदर। अगर यह बात न होती तो किसी तरहका स्वानिक उपचार किये बिना ही केवल ठंढ लानेवाले स्नानों और आहारकी सहायतासे इनका इतनी शीघ्रतासे दूर होना असंभव ही होता। रोगोंसे विशेषकर सिरके रोगोंसे छुटकारा मिलेनेका एकमात्र कारण यह है कि मेरी पद्धति रोगके मूल कारणपर ही आघात करती है।

मैंने प्रायः देखा है कि एक ही बारके—कुछ अधिक देरतक चलाये गये—ठंड लानेवाले स्नानसे शिरःशूल और अर्द्धकपाली दूर हो गयी है। सिरके पुराने रोग, जो वर्षोंसे बने हुए हैं और अधिक लदावके कारण पैदा हुए हैं, इतनी शीघ्रतासे नहीं जा सकते। विजातीय द्रव्यको पीछे हटाकर निकालना पड़ता है और इस क्रियामें रोगीका पुराना शिरःशूल भी प्रकट हो जा सकता है। प्रायः स्नानोंसे भी शिरःशूल हो जाता है;

क्योंकि विजातीय द्रव्यके पीछे हटते समय मस्तिष्ककी नाड़ियोंपर उसका जोरदार दबाव पड़ा करता है।

एक व्यक्ति अपने औषधोपचारकके निदानानुसार भेजेके क्षयसे पीड़ित था। उसने तरह-तरहके उपचारोंका प्रयोग किया, पर लाभ होनेके बजाय उसकी हालत दिनोंदिन खराब ही होती गयी। पहले उसे शिरःशूल हुआ जो औषधोपचारसे दबा दिया गया। इसके पश्चात् उसकी हालत और खराब हो गयी और भेजेका क्षय बढ़ता गया। इसी दयनीय अवस्थामें वह मेरा उपचार कराने आया। उसका पाचन खराब होना स्वाभाविक था। मैंने उसे रोज कई बार ठंढ लानेवाले स्नान, प्राकृतिक आहार और पसीना निकालनेका प्रयत्न करनेको कहा। उभारकी अवस्थाका कुछ कालके लिए प्रस्तुत होना स्वभाविक ही था। यह अवस्था विशेषकर अर्बुदोंके छिन्न-भिन्न होनेके समय प्रस्तुत हुआ करती थी और इसका अन्त होनेपर रोगीको हमेशा आराम मालूम होता था। दो मास उपचार चलानेपर वह पूर्ण रूपसे नीरोग हो गया।

# सन्निपातज्वर, आंव, विसूचिका और अतिसार

सन्निपातज्वर (टायफायड) का आक्रमण साधारणतः कम उम्रके लोगोंपर होता है और सबल तथा हृष्ट-पुष्ट लोग ही विशेष रूपसे इसके शिकार हुआ करते हैं।

इसकी गणना सबसे भीषण ज्वरोंमें की जाती है इसलिए इसका उभार भी बहुत उग्र हुआ करता है। इसका भय सारे संसारमें फैला हुआ है और औषधोपचारसे बहुतसे लोग इससे मरते भी हैं। मेरी चिकित्सा-पद्धति इसके भयानक रूपको बिलकुल दूर कर देती है। विजातीय द्रव्यकी मात्रा बहुत अधिक होनेपर ही यह अनिश्चय रहता है कि शरीर उभारकी अवस्थाका सहन करनेमें समर्थ होगा या नहीं, पर अगर ठंड लानेवाले स्नानके बाद मेरे तरीकेसे प्राकृतिक रूपमें रोगीके शरीरसे पसीना निकाला जा सके तो समझना चाहिए कि अब कोई डर नहीं है। कठिन सन्निपात-ज्वरके उपचारमें देखा गया है कि जिनको औषधोपचारमें हफ्तों ही क्या, महीनों रहना पड़ा है वे मेरा उपचार आरंभ करनेपर एक ही दिन बाद खुली हवामें व्यायाम करने योग्य हो गये।

अनुभवसे यह सिद्ध हो गया है कि सन्निपातज्वर, फुप्फुसप्रदाह (न्यूमोनिया) आदि तीव्र रोगोंमें मेरा वाष्पस्नान बहुत लाभदायक होता है, पर इसका प्रयोग रोगीकी अवस्थाका विचार करके ही करना चाहिए —न तो बार-बार किया जाय और न अधिक देरतक ही। कटि और मेहनस्नान भी साथ-साथ चलाये जाने चाहिए। मुख्य बातोंके संबंधमें सन्निपातज्वरका रूप और रोगों—जैसा ही होनेके कारण इसका उपचार भी वैसा ही होना चाहिए, हां, व्यक्तिविशेषकी अवस्थाके अनुसार उपचारके रूपमें कुछ अंतर होगा ही।

एक महिलाने, जो बहुत दिनोंसे मेरी पद्धतिका प्रयोग कर रही थी,

लिखा था कि सन्निपातज्वर एवं मसूरिकासे भीषण रूपमें ग्रस्त दो व्यक्तियोंको सिर्फ एक वाष्पस्नान और कुछ अधिक देरतक चलाये गये कटि और मेहनस्नानसे इतना लाभ हुआ कि वे बिस्तर छोड़कर बाहर जाने योग्य हो गये और छह दिनोंमें रोगका नामोनिशान भी नहीं रहा। मेरे उपचारोंका फल भी अनुकूल ही होता रहा है। जिनका शरीर बहुत निर्बल और औषधोपचारसे पहले ही क्षतिग्रस्त हो गया था उन्हें नीरोग करनेमें कुछ कठिनाई हुई।

## आंव और विसूचिका

आंव (डिसेंटरी) और विसूचिकामें भी मुझे वही सफलता प्राप्त हुई है। दोनों ही रोगोंमें पाचनमें अस्तव्यस्तता और आंतरिक ज्वर भी होता है। विसूचिकामें तो आंतरिक ज्वर इतना तेज होता है कि शरीर भीतर जलकर काला पड़ जाता है जो इस रोगसे मरनेवाले व्यक्तियोंकी नाक और आंखोंका रंग बदल जानेसे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। जिनका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा होता है उन्हींपर विसूचिका और आंवका आक्रमण होता है, इसलिए एक व्यक्तिका रोगकी चपेटमें आ जाना और दूसरेका बेदाग बच जाना कोई संयोगकी बात नहीं है। अनुभवसे यह बिलकुल सिद्ध हो गया है कि जो लोग विसूचिकासे आक्रांत हुए हैं उनका पाचन बहुत पहलेसे खराब रहा होता है। विसूचिका या आंवका आक्रमण होनेके पहले, यहांतक कि जब रोगका एक भी चिह्न प्रत्यक्ष नहीं हुआ होता, कुछ बेचैनी और शरीरमें भारीपन मालूम होता है। यह अवस्था खमीर बनना आरंभ होनेका सूचक है। मेरे विचारसे विसूचिका सबसे तेज शोधक उभारकी अवस्था है। ऋतु-परिवर्तन, शीत, भय, उत्तेजना आदि बाह्य कारणोंसे खमीर बनना आरंभ हो जानेपर विजातीय द्रव्य, विशेषकर उस हालतमें जब त्वचा निष्क्रिय होती है, उदरकी ओर—जहांसे वह पहले चला था—वापस होने लगता है। शरीरमें अगर काफी जीवशक्ति मौजूद है तो इस कठिन उभारकी

अवस्थापर विजय प्राप्त की जा सकती है और रोगीका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जायगा। इसके विपरीत, अगर औषधोपचारके कारण शरीर-की आरोग्यदायक शक्ति क्षीण हो गयी है तो शरीर इस उभारकी अवस्थाको सहन नहीं कर सकेगा। विसूचिका या उससे कम खतरनाक आंवके ज्वरमें एक विशेष प्रक्रिया होती है जो अन्य रोगोंमें नहीं देख पड़ती—आंतरिक ज्वर केवल पाचनांगोंमें केंद्रित हो जाता है जिससे भीतर तो ध्वंसकारी ताप होता है, पर ऊपर ठंढ मालूम होती है।

इन रोगोंके उपचारमें सबसे पहले अंदरकी गर्मी कम करने और प्राकृतिक उपायोंसे पसीना निकलनेका प्रयत्न करना चाहिए। अगर अंदरके जलानेवाले खतरनाक तापपर जल्द विजय प्राप्त करने योग्य शरीरमें जीवशक्ति मौजूद होगी तो आरोग्यलाभ अपेक्षाकृत शीघ्र होगा। अंदरकी अधिक गर्मीके कारण बहुतसे रोगियोंको बाहरी ठंढका अनुभव नहीं होता। ऐसे रोगियोंके लिए ज्यादा खतरा रहता है। सन् १८४९ और १८६६ में लिपजिगमें विसूचिकाका प्रकोप होनेपर मैं कई रोगियों-की हालत गौरसे देखता रहा। जिन रोगियोंका शरीर गर्मी बाहरकी ओर लानेमें समर्थ हुआ उन्होंने विसूचिकापर विजय प्राप्त कर ली, पर जिनकी गर्मी बाहरकी ओर नहीं पहुंच सकी वे मर गये। एक महिलाको मध्याह्नमें गोदमें बच्चा लेकर आंगनमें शांतिपूर्वक टहलते देखा और अपराह्नमें उसका प्राणांत हो गया। विसूचिकामें खमीर बनने लगनेपर उसके शरीरकी ओरसे जरा भी प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ था। ओठों, आंखों और नाग्राग्रका रंग काला पड़ जानेसे यह स्पष्ट था कि उदरके अंदर गलनेकी क्रिया भीषण रूपमें चल रही थी।

इस प्रकारके भीषण रोगोंसे मुक्ति दिलानेमें मेरा मेहन-स्नान सर्वा-धिक सहायक होता है। उससे जीवशक्ति भी बढ़ जाती है। उदरका वाष्पस्नान भी बहुत प्रभावकारी सिद्ध होता है, पर इस स्नानके बाद मेहन या कटिस्नान अवश्य कराना चाहिए और अगर संभव हो तो

पसीना लानेके लिए उसके बाद धुपस्नान करा देना चाहिए। अगर धूप-स्नानकी सुविधा न हो तो पसीना लानेके लिए रोगीको बिस्तरपर लिटाकार कपड़ेसे अच्छी तरह ढक देना चाहिए। प्रायः कुछ ही बारका ठंढ लानेवाला स्नान रोगीको खतरेसे बाहर करनेके लिए काफी होता होता है। आहार तो पूर्ण रूपसे अनुत्तेजक होना ही चाहिए।

आंवमें भी और उपचारोंके साथ-साथ ये ठंढ लानेवाले स्नान बड़े प्रभावकारी होते हैं। कुछ बार मेहन और कटि स्नान और सिर्फ एक बार वाष्प-स्नान अतिसारसे मुक्ति दिलानेके लिए पर्याप्त होता है।

अगर यह पर्याप्त न हो और अवस्था गंभीर हो तो एक ईंट गर्म कर ऊनी कपड़ोंमें लपेट ली जाय और गुदाके नीचे रख दी जाय। इससे दस्त आना फौरन बंद हो जाता है। कुछ घंटोंके बाद मेहन-स्नान कराया जाय और फिर ईंटका प्रयोग किया जाय।

विसूचिकासे मुक्ति पानेवाले प्रायः सभी लोगोंने एक कठिन भारसे छुटकारा पानेका अनुभव किया है; क्योंकि पहलेका सारा विजातीय द्रव्य बाहर निकल गया होता है। मेरे आकृतिविज्ञानके सहारे भी भार कम होना स्पष्ट रूपमें देखा जा सकता है। समझनेकी बात तो यह है कि कुछ ही दिनोंमें शरीरकी अवस्था बिलकुल परिवर्तित कैसे हो जाती है।

चूंकि विसूचिका खतरनाक उभारकी अवस्था है इसलिए इसके संक्रमणसे बचनेका पूरा-पूरा खयाल रखना आवश्यक है। दुर्भाग्यसे अब-तक इससे बचनेके उपाय नहीं मालूम हो सके हैं। सिर्फ मेरे आविष्कारसे लदावका, यहांतक कि खतरनाक और प्रतिकूल अवस्थाका भी, जो विसू-चिका-जैसा उभार उत्पन्न करनेवाली होती है, निश्चय करना संभव है।

भारत आदि देशोंमें विसूचिका रोगमें मेरी पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। गर्म देशोंमें इस प्रकारके रोगसे बचनेके लिए ठंढ लानेवाले स्नानोंके साथ अनुत्तेजक आहार बड़े कामका होता है। विसूचिका, आंव आदि तीव्र ज्वरोंपर इसका बहुत अच्छा प्रभाव होता है। ऐसे देशोंके लोगोंको इस प्रकारका आहार अपनानेमें डरनेका कोई कारण भी नहीं है।

# अतिसार

अतिसार (डायरिया) भी साधारणतः आंव और विसूचिकाका ही छोटा रूप है, पर विसूचिकासे किसी प्रकार कम नहीं है। जिन बच्चोंको बोतलसे दूध पिलाया गया है और जो उसके परिणाम स्वरूप विजातीय द्रव्यसे भरे हैं उन्हींको साधकारणतः यह रोग होता है। इसका उपचार भी वही है जो विसूचिका का है। अगर बच्चेको माता या पिताके साथ सुला दिया जाय तो उसे जल्द पसीना निकल आयेगा। सबल लोगोंपर भी प्रायः इसके सामयिक आक्रमण हुआ करते हैं।

अतिसार चाहे जैसा भी हो; यह शरीरका अपनेको स्वस्थ करनेका एक प्रयत्नमात्र है, इसलिए अगर यह बहुत दिनोंतक न बना रहे तो इसे अच्छा ही मानना चाहिए। इस प्रकारकी उभारकी अवस्थासे गुजरनेपर हर एक आदमी नवजीवनका अनुभव करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर अपनेको विजातीय द्रव्यसे मुक्त करनेके लिए किस प्रकार सामयिक प्रयत्न किया करता है।

अतिसार मलावरोधका ठीक उलटा जान पड़ता है, पर अगर मैं यह कहूं कि दोनों ही अतिभोजनके कारण उत्पन्न होनेवाले आंतरिक तापके परिणाम हैं तो किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जिस तरह एक ही कारणसे एक व्यक्ति तो मोटा-ताजा और हृष्ट-पुष्ट और दूसरा दुबला-पतला और कमजोर होता है उसी प्रकार अतिसार और मलावरोधका भी एक ही कारण होता है। अगर कटिस्नानमें कब्ज दूर न हो तो मलत्यागके लिए मैदान, विशेषकर जंगलकी ओर निकल जाना चाहिए। ताजी हवाका शरीरपर आश्चर्यजनक प्रभाव होता है; जिस बातका अंधेरे कमरेमें होना असंभव होता है वह ताजी हवामें आसान हो जाती है।

# पित्त ज्वर, सतत ज्वर, पीत ज्वर, कुष्ठ आदि उष्णदेशीय रोग

उष्ण देशोंमें विशेष रूपसे होनेवाले ज्वरोंको चाहे जो नाम दिये जायं और चाहे जिस रूपमें वे देख पड़ें, पर उनके आरंभ होने और बढ़नेका एक ही कारण होता है—विजातीय द्रव्यका खमीर बनना। उष्ण देशोंकी आवहवा और दिन-रातके तापमें होनेवाले अन्तरपर ध्यान देनेपर इन ज्वरोंकी विषमताका, जो खमीरकी क्रियाकी तेजी और प्रबलताके अनुपातमें बढ़ती जाती है, कारण फौरन समझमें आ जाता है। उष्ण देशोंके निवासियोंमें, यहांतक कि उन लोगोंमें भी जिसमें विजातीय द्रव्य अपेक्षाकृत कम मात्रामें होता है, भीषण ज्वरके फैलनेके अनुकूल सारी परिस्थितियां मौजूद रहती हैं। समशीतोष्ण देशोंमें यह बात इस रूपमें नहीं देखी जाती। स्वभावतः इसीके परिणामस्वरूप वहां ज्वर विभिन्न रूपोंमें प्रकट हुआ करता करता है।

## पीत ज्वर

पीत ज्वर सबसे अधिक भयानक होता है। यह नाम पड़नेका कारण यह है कि इसमें त्वचा क्रमशः पीली पड़ती जाती है और यह शायद औषधोपचारके कारण होता है। इस रोगमें आरंभमें थकान, सिरदर्द, शूल, प्यास, चर्मकी शुष्कता आदि लक्षण देख पड़ते हैं; बादमें चेहरा काला पड़ जाता है और रोगी काली-काली चीजोंका वमन करने लगता है, आंख पीली हो जाती हैं और त्वचाका रंग भी प्रायः मृत्युके बाद वैसा ही हो जाता है।

प्रयत्न तो यही होना चाहिए कि यह यह रोग पैदा ही न हो। इसका उपाय भी आसान ही है। एक तो आहार अनुत्तेजक, निरामिष और

संयत हो; दूसरे, रहन-सहनका ढंग प्राकृतिक हो और मेरे ठंढ लानेवाले स्नान चलाये जाते रहें। यह बात अवश्य है कि उष्ण देशोंमें इन स्नानोंके लिए नातिशीतोष्ण देशोंकी तरह ठंढा पानी नहीं मिल सकता, पर हवा और पानीके तापमानका संबंध दोनों प्रकारके देशोंमें बहुत कुछ एक ही जैसा होता है। इसके अलावा जो ताप खमीरका कारण होता है वही आरोग्यलाभकी प्रक्रियामें भी सहायक होता है; क्योंकि उष्ण देशोंमें नातिशीतोष्ण देशोंकी अधिक अपेक्षा, शीघ्रतासे बदनको गर्मकर पसीना लाया जा सकता है। औषवविज्ञान कुनैन, एंटीपायरिन आदि दवाओंके जरिये नाड़ियोंको शिथिलकर ज्वर मुक्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। कम तेज दवाका इस्तेमाल करनेके बाद ज्यादा तेज दवा देनेकी जरूरत पड़ेगी और अंतमें अधिक-से-अधिक तेज दवाओंके जरिये नाड़ियोंको निष्क्रिय करते जानेका भीषण परिणाम नाड़ी-रोगोंके रूपमें प्रकट होगा जिन्हें अच्छा करना और भी कठिन होगा ।

## कुष्ठ

उष्ण देशोंका सबसे भयंकर अभिशाप कुष्ठ रोग है। नातिशीतोष्ण देशोंमें रहनेवाले लोग इसकी भीषणताका अनुमान भी नहीं कर सकते। मृत्यु ही इस रोगसे ग्रस्त लोगोंको कष्टसे छुटकारा दिलाती है; अन्य कोई उपाय उन्हें नहीं मालूम है। छूतके भयसे वे अपने परिवार और मानव-समाजसे पृथक्कर एक टापूपर या किसी खास अस्पतालमें, जहां उनका अपना कोई नहीं होता, अपने भयंकर अंतकी प्रतीक्षा करनेके लिए रख दिये जाते है। अधिक-से-अधिक यही होता है कि समयपर उन्हें भोजन पहुंचा दिया जाता है, इसके अलावा उनके साथ और किसी तरहका सम्पर्क नहीं रखा जाता।

नातिशीतोष्ण देशोंमें कुष्ठ रोग शायद ही कहीं नजर आता होगा। उष्ण देशोंमें इस रोगका जो कारण होता है वही नातिशीतोष्ण देशोंमें संधिवात और शोथ उत्पन्न करता है। जिस तरह सूर्यका ताप, जल और

मिट्टी प्रायः समान होते हुए भी गर्म देशोंमें खजूर और नातिशीतोष्ण देशों में बलूत पैदा होता है ठीक उसी तरह कुष्ठ भी गर्म देशोंकी ही उपज है।

गीले और सूखे कुष्ठमें कुछ अंतर होता है। पहलेमें शरीरका गलना प्रायः वर्षों चलता है और उसमें भयंकर पीड़ा भी होती है। रोग बराबर बढ़ता जाकर बहुत गहराईतक पहुंच जाता है और तब मृत्यु आकर छुटकारा दिला देती है। सूखे कुष्ठमें पहलेकी तरह पाचनकी खराबी बढ़ती जाती हैं और गलनेवाले काले धब्बे अंगोंके अग्रभाग—विशेषकर हाथ-पैरमें धीरे-धीरे बनते जाते हैं जो तेज आंतरिक ज्वरके सूचक होते हैं। इसके अनन्तर मांस गायब होने लगता है—पहले तो अंगुलियोंका सिरा गायब होता है और बादमें शरीरका शेषांश भी गलने लगता है, केवल अस्थियां और जोड़ बच जाते हैं। शरीर वृक्षकी तरह सूखता जाकर ममी* का रूप धारण कर लेता है। अस्थियों और जोड़का आकार कुछ बढ़ा हुआ जान पड़ता है, मांस घटता जाता है और दुर्भाग्यग्रस्त रोगी कंकालके रूपमें परिणत होकर कालका ग्रास बन जाता है।

और रोगोंकी तरह ही कुष्ठ रोगका कारण भी विजातीय द्रव्यका लदाव ही है। यह या तो पैतृक होता है या अप्राकृतिक जीवनका परिणाम रोगका उद्गमस्थान उदर या पाचन-संस्थान होता है जिसकी अवस्था बिलकुल असाधारण हो जाती है। उष्ण देशोंका ताप विजातीय द्रव्यको खमीर बनाकर अंगोंके अग्रभागकी ओर पहुंचा देता है जहां वह भीतरके दबावके कारण जमा हो जाता है। इस जमावके कारण इन भागोंकी ओर जानेवाली जीवनवाहिनी नाड़ियोंका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिससे उनकी क्रिया बंद हो जाती है। कुष्ठके रोगियोंका शरीर संवेदनशून्य हो जानेका यही कारण है। इन रोगियोंका आंतरिक ज्वर बहुत तेज होता है; पर ऊपर ठंढ मालूम होती है। शुष्क कुष्ठमें इस तीव्र आंतरिक तापसे

---

*प्राचीन मिस्रमें शवमें एक तरहका मसाला लगाया जाता था जिससे वह हजारों वर्ष सुरक्षित रह सकता था। 'ममी' इसी प्रकारके शवको कहते हैं।

अंगोंके अग्रभाग सूख जाते हैं; क्योंकि पाचनसंस्थान खराब हो जानेसे पोषक खाद्य पदार्थ खाते रहनेपर भी रोगीको पोषणकी प्राप्ति नहीं होती; भोजन शरीरमें पहुंचता अवश्य है, पर रोगी निराहार ही रहता है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि महत्व इस बातका नहीं है कि रोगी क्या खाता है या ऐसा पदार्थ खाता है जिसे रसायनशास्त्री शरीरका निर्माण

चित्र—१ (उम्र १५ वर्ष)

करनेवाला मानते हैं, बल्कि इस बातका है कि रोगी किस तरहका खाद्य पदार्थ वस्तुतः पचा सकता है।

गीले कुष्ठमें गलनेकी क्रिया ठीक शोथकी-सी होती है। शोथमें भी जल

कुष्ठकी चिकित्साके संबंधमें औषधिविज्ञान साफ-साफ अपनी असमर्थता प्रकट करता है। वह ज्वरके वास्तविक रूपसे परिचित नहीं है और कुष्ठको ज्वरमूलक रोग मानता भी नहीं। आंतरिक तापपर चढ़ाई कर विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेपर ही कुष्ठसे छुटकारा मिल सकता है। यह संभव न होनेपर पूर्ण आरोग्यलाभकी आशा नहीं की जा सकती; अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि अवस्थामें कुछ सुधार हो जाय।

औषधोपचारसे रोगकी अपेक्षा कहीं अधिक क्षति होती है। बटावियावाले रोगीमें, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, कुष्ठविशेषज्ञने कुष्ठके कीटाणुओंका होना असन्दिग्ध रूपमें माना था, पर विषैली दवाओंके जरिये या और किसी उपायसे उनसे छुटकारा नहीं दिलाया जा सका। अब जरा मेरी पद्धतिसे प्राप्त होनेवाली सफलताकी उससे तुलना कीजिए जिससे कुष्ठके सारे कीटाणुओंका अंत हो गया और इस बातको उस विशेषज्ञने भी स्वीकार किया। अनुत्तेजक आहार और ठंढ लानेवाले स्नानोंसे ही यह रोग अच्छा हो सकता है। हां, यह बात अवश्य है कि जिन रोगियोंका पाचन और त्वचाकी सक्रियता सुधारके योग्य होगी वे ही आरोग्यलाभकी आशा कर सकते हैं।

मेरी पद्धतिमें छूतका भी डर नहीं रहता। जो छूतसे डरते हैं उनके लिए यह बड़े महत्त्वकी बात है। आवश्यकता है केवल प्राकृतिक रहन-सहनका तरीका अपनाने और ठंढ लानेवाले स्नानोंद्वारा शरीरको विजातीय द्रव्यसे मुक्त करनेकी। इससे वे छूतके खतरेसे ही नहीं बचे रहेंगे, उनका साधारण स्वास्थ्य और शारीरिक तथा मानसिक शक्ति भी बहुत अच्छी हो जायगी।

आरोग्य प्रदान करनेवाले प्राकृतिक साधनोंको औषधोपचारक कितना महत्त्व देते हैं यह इसी बातसे स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने रोगियोंको कमरेमें रखकर सावधानीसे खिड़कियां बंद करा देते हैं जिसमें ताजी हवा, विशेषकर रातमें, आने न पाये। इससे कमरेका, रोगीकी गंदी सांस और

खमीर बनते हुए विजातीय पदार्थसे व्याप्त हो जाना स्वभावत: अनिवार्य हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें अगर कुष्ठ संक्रामक हो जाय तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं होगी।

रोगियोंके आरोग्यलाभका जिक्र करनेके पहले मैं कुष्ठ तथा अन्य रोगों (उष्णदेशीय ज्वरादि) से बचनेका उपाय संक्षेपमें बतला देना चाहता

चित्र—३ (उम्र ९ वर्ष)

हूं। जिसमें अवस्था खराब होनेपर भी रोग खतरनाक नहीं हो सकेगा और अगर गड़बड़ी भी होगी तो बहुत कम। जिसमें रोगकी प्रवृत्ति या विजातीय द्रव्य अधिक मात्रामें होगा उन्हींपर इन रोगोंका आक्रमण हो सकता है। विजातीय द्रव्यको उत्तेजित करनेवाला कोई भी कारण नये सिरेसे खमीर

(उभार) उत्पन्न कर जीवनके लिए खतरा पैदा कर दे सकता है। मेरे आकृतिविज्ञानके सहारे रोगकी पूर्व प्रवृत्ति वर्षों पहले पहचानी जा सकती है। जो इस विज्ञानसे परिचित नहीं हैं वे भी कुछ हदतक इस पूर्व प्रवृत्तिका निश्चय कर सकते हैं। चतुर प्रकृति माताने सहज ज्ञानके रूपमें एक अमोघ साधन प्रस्तुत कर दिया है जिसे दुर्भाग्यवश बहुतसे लोग नहीं समझ पाते। जो लोग विजातीय द्रव्यसे भरे हुए हैं उनका प्रकृतिके साथ थोड़ा भी सामंजस्य हो तो यह सहज ज्ञान उनमें संक्रमणके प्रति भय और आतंक उत्पन्न कर देता है। बर्लिन तथा अन्य स्थानोंके तीन लड़कोंका जिनकी अवस्था नौ, तेरह और पंद्रह वर्षकी थी, मैंने उपचार किया जिसमें मेरी पद्धतिकी श्रेष्ठता भलीभांति प्रमाणित हो गयी, विशेषकर उस हालतमें जबकि औषधोपचारकोंने साफ-साफ जबाब दे दिया था। उपचार शुरू करनेके समय उनकी हालत बहुत ज्यादा खराब थी। हाथकी अंगुलियोंका सिरा, यहांतक कि दूसरी ओरका भी कुछ भाग गल गया था और शेष बहुत सूज गया था और गिरने ही वाला था जैसा कि छोटे लड़केके चित्रों (४,५) में देख पड़ता है। दाहिने हाथकी तर्जनी तो बहुत अधिक गल गयी थी। शेष दोनो लड़कोंके पैरोंकी हालत भी भयंकर थी (चित्र ६,७)। वे विजातीय द्रव्यसे आक्रांत होकर आकृतिहीन पिंड़के रुपमें परिणत हो गये थे। गलनेकी क्रिया कई जगह शुरु हो गई थी और जख्मोंसे, जो हड्डीतक पहुंच गये थे, पूय निकल रहा था। हाथोंका कुहनीतकका और पैरोंका घुटनेतकका भाग संवेदनशून्य हो गया था। बार्लिनके एक चिकित्सकने हाथोंमें, जहांतक वेसंवेदनशून्य हो गये थे, सूई चुभोकर इसकी परीक्षा भी की थी। लड़कोंकी हालत इस कदर खराब थी कि उस समय उनका चित्र भी नहीं लिया जा सकता था। (यहां जो चित्र दिये गये थे वे एक सप्ताह उपचार चलानेके बाद—हालतमें सुधार हो जानेपर—लिये जा सके।)

कटिस्नानके साथ रोज तीन बार मेहन-स्नान, प्राकृतिक आहार, खुली हवामें व्यायाम और पसीना निकालनेका क्रम चलाया गया।

इसका प्रभाव बड़े महत्त्वका हुआ। उपचार आरंभ करते समय उनकी सांससे बड़ी बदबू आती थी; उपचारकालमें तो वह असह्य ही हो गयी-

चित्र—४ (चित्र दोके लड़केके हाथ)
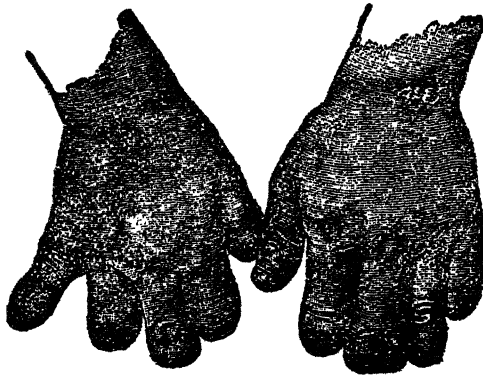
सड़ानकी बड़ी कड़ी गंध आने लगी। विकृत पदार्थमें गति उत्पन्न हो जाने-

चित्र—५ (चित्र तीनके लड़केके हाथ)

से वह मार्ग पानेका प्रयत्न कर रहा था। स्नानोंके समय यह बात विशेष रूपमें देख पड़ती थी।

सुबहके भोजनमें चोकरदार आटेकी रोटी और कुछ से तथा शाम-को रोटी, उबली हुई तरकारी, थोड़ा मक्खन और नाममात्रको नामक दिया जाता था; मांस, शोरबा तथा इस तरहकी अन्य चीजोंकी बिलकुल मनाही थी। पेयके रूपमें केवल ताजा पानी दिया जाता था।

एक ही पक्षमें खुले घावोंका बहना बिलकुल बंद हो गया और वे भीतरकी ओरसे भरने लगे। बड़े लड़केके घाव, जो और भी बड़े थे दूसरा महीना शुरू होनेतक नहीं भरे। हाथोंकी हालतमें भी बहुत परि-वर्तन हुआ। दूसरे ही महीनेमें अंगुलियां पतली होने लगीं जो उनपर पड़ी हुई शिकनसे स्पष्ट हो जाता है। अब विजातीय द्रव्य उदरकी ओर ठीक उसी तरह वापस होने लगा जिस तरह वह अंगोंके अग्रभागकी ओर बढ़ा था। हाथों, पैरों और विशेषकर जोड़ोंमें खिचावका-सा दर्द होनेसे उन्हें इसका स्पष्ट रूपमें अनुभव हो रहा था। उपचार आरंभ होनेके समय बड़ा लड़का अपने जूते, जो विशेषकर उसीके लिए बनावाये गये थे, पहन भी नहीं सकता था, पर चार सप्ताहके उपचारके बाद वह चमड़े के साधारण जूते पहनने योग्य हो गया और जो अंग सुन्न हो गये थे उनमें संवेदन होने लगा जो स्वभावतः पाचनके सुधारका परिणाम था।

मेरे पास आनेका समय उन्हें जरा भी भूख नहीं मालूम होती थी, पर एक ही सप्ताह उपचार चलानेपर उन्हें जो मात्रा दी जाती थी उससे उनकी तृप्ति नहीं हो पाती थी, क्योंकि उनकी पाचनशक्ति अब काफी सक्रिय हो गयी थी। इन दुर्दशाग्रस्त बालकोंकी तुलना अब पहलेकी हालतसे नहीं की जा सकती थी—जहां मृत्यु निश्चितप्राय थी वहां अब चेहरेसे प्रसन्नता झलक रही थी।

इन सफल परिणामोंके आधारपर मैं निश्चयात्मक रूपमें कह सकता हूं कि कुष्ठ रोगका कारण भी वही होता है जो अन्य रोगोंका। केवल वही रोगी अच्छे नहीं किये जा सकते जिनका रोग बहुत अंदर चला गया

है और जीवनके लिए जो अंग बहुत आवश्यक हैं वे नष्ट हो गये हैं। ऐसे भाग्यहीन रोगियोंको भी मेरी पद्धतिसे राहत मिलेगी और उनकी मृत्यु शांतिपूर्वक होगी।
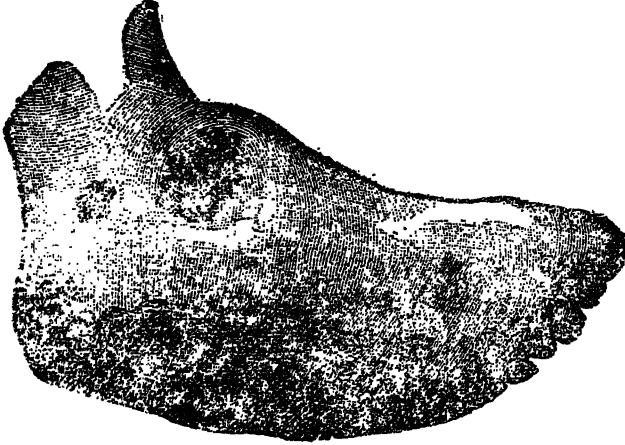
चित्र—६ (चित्र एकके लड़केके पैर)
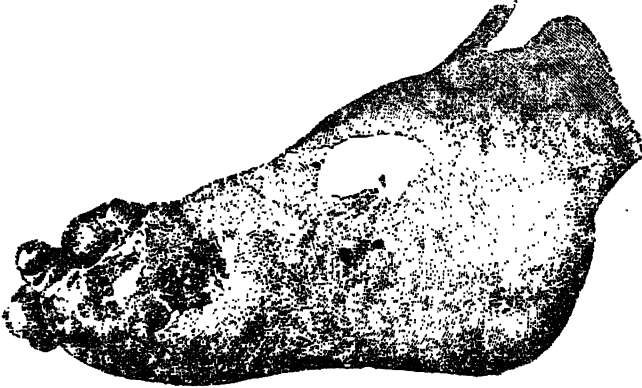
चित्र—७ (चित्र दोके लड़केके पैर)

# कच्छु, कृमि, केंचुआ, पराश्रयी कीट तथा अंत्रवृद्धि

यहां भी मैंने ऐसे कई रोगोंको एक ही श्रेणीमें रख दिया है जो बाह्य लक्षणोंकी दृष्टिसे बिलकुल भिन्न होते हुए भी एक ही सामान्य कारणके परिणाम होते हैं। मेरी यह अवधारणा दीर्घकालव्यापी चिकित्सामें मिले ठोस प्रमाणोंपर ही आधृत है। कच्छु तथा इस प्रकारके अन्य पराश्रयी कृमियोंसे उत्पन्न रोगोंका उपचार करते समय पहले यह समझ लेना आवश्यक हो गया कि कच्छु-कीटाणुओंका प्रजनन कैसे होता है और उनकी क्या प्रकृति है।

यह बात सबको भलीभांति ज्ञात है कि वसंत ऋतुका—जिस समय प्रकृतिकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है—एक ही उष्ण दिवस वृक्षोंके किशलयोंपर असंख्य कीट-पतंग उत्पन्न करनेके लिए काफी होता हैं। हम अपनी आंखोंसे उन्हें सुंदर-सुंदर पत्तियोंको चट कर जाते देखते रहते हैं, पर उनको इस कार्यसे विरत करनेमें समर्थ नहीं होते। उसके बाद ठंढी रात आती है और ये सारे-के-सारे परोपजीवी कोट जैसे एकाएक आये थे वैसे ही एकाएक गायब भी हो जाते हैं। प्रकृति तापमान घटाकर एक ही रातमें वह काम कर दिखाती है जिसे करना हम लोगोंके लिए बिलकुल असंभव होता है। सारे परोपजीवी प्राणी प्रकृतिके इसी नियमके वशवर्ती हैं।

इस प्राकृतिक घटनाके निरीक्षणसे हम इसी परिणामपर पहुंचते हैं कि कच्छु-कीटाणु, कृमि, जूं तथा अन्य पराश्रयी प्राणी उसी हालतमें बने रह सकते हैं जब उन्हें पोषण प्रदान करनेवाला माध्यम प्राप्त हो। यह माध्यम उसी शरीरमें पाया जा सकता है जो रुग्ण अर्थात विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ है। इसके अलावा एक बात और है—वह यह कि इस

प्रकार प्राणियोंका जीवन तापके एक निश्चित ऊंचे मानपर ही बना रह सकता है। अनुभवसे यह सिद्ध हो चुका है कि यह तापमान उन्हीं शरीरोंमें पाया जा सकता हैं। जो विकृति द्रव्यसे भरे हुए हैं। अगर हम असाधारण तापको घटाकर औसत दरजेपर लाने और साथ ही विकृत द्रव्योंको बाहर निकालनेमें समर्थ हो जायं तो इन परोपजीवी प्राणियोंके और अधिक कालतक बने रहनेकी संभावना अंतका हो जायगा और वे जल्द ही गायब हो जायेंगे।

जिन लोगोंने मेरी पूर्वलिखित व्याख्याओंको ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा उन्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो गया होगा कि यह आंतरिक ताप मेरे ठंढ लानेवाले स्नानों, अनुत्तेजक आहार और अन्य प्रचलित उपायोंसे ही दूर किया जा सकता है। हां, यह बात जरूर है कि इन उपायोंका रूप रोगोंकी अवस्थाका विचार करके ही निश्चत करना पड़ेगा। इस प्रकार मेरी नयी चिकित्सा-पद्धतिके विचारसे इन रोगोंका भी कारण वही होनेसे जो साधारणतः और रोगोंका होता है, उपचारके वे ही तरीके काममें लाये जायंगे जो दूसरे रोगमें अबतक कभी विफल नहीं हुए। औषधोपचारसे तो शरीरको और अधिक क्षति ही पहुँचती है।

नीचेके कुछ मनोरंजक उदाहरणोंसे इस शुष्क विषयका स्पष्टीकरण आसानीसे हो जायगा।

एक सज्जन विभिन्न प्रकारके आंत्रकृमियोंके रोगसे ग्रस्त थे। इस रोगके साथ नाड़ी-संस्थान और पाचनका अव्यवस्थित होना स्वाभाविक ही था। उनका मल कृमियोंसे भरा रहता था, वे मरणासन्न हो गये थे और अंदरसे उनका शोषण होता जा रहा था। मेरी पद्धतिसे उन्हें राहत मिली और दूसरे ही महीनेमें कारण दूर हो जानेपर कृमि भी लापता हो गये। क्रमशः आरोग्यलाभ करते गये और उनकी अवस्था जीर्ण रोगसे पूर्ण स्वास्थ्यमें परिवर्तित हो गयी। कटि और मेहन-स्नान, प्रस्वेदन अपक्व हार आदिके द्वारा विकृत द्रव्य बाहर निकालकर आंतरिक ताप कम करनेपर ही यह आरोग्य-लाभ संभव हो सका।

औषधोपचारके सिलसिलेमें यहां कच्छुके एक रोगीका उदाहरण दिया जा सकता है। सत्रह वर्षका यह नवयुवक कई अस्पतालों और चिकित्सागृहोंमें रहकर इस रोगका उपचार करा चुका था, पर कहीं उसे जरा भी लाभ नहीं हुआ। अंतमें एक प्राध्यापकने व्यंग्यमें मुझसे मिलनेको कहा; क्योंकि उनके पास अब इसका कोई उपाय नहीं था। औषधोपचारसे कोई लाभ होते न देख वह कष्ट और लाचारीकी हालत मेरे यहां पहुंचा। उसके हाथ देखनेमें भयंकर मालूम होते थे। आकृतिविज्ञानके सहारे मैं इस नतीजेपर पहुँचा कि वह मंदाग्निजन्य जीर्ण उदररोगसे वर्षोंसे पीड़ित है और विकृत रस तथा अशुद्ध रक्त स्वभावतः कच्छुके लिए अच्छा पोषण प्रदान कर रहे हैं। कच्छु-कीटाणु बहुत कुछ दंडाणु (बेसिलस) जैसे ही होते हैं और वे गलते हुए पदार्थसे ही अपना आहार प्राप्त करते है। बिना उपयुक्त माध्यमके उनका अस्तित्व संभव नहीं है। इस रोगमें भी कटि और मेहन-स्नान, प्राकृतिक आहार तथा वाष्प-स्नान बड़े लाभदायक हुए। पाचन शीघ्र ही सुधरने लगा और इसके साथ ही कच्छुके कीटाणु भी कम होने लगे, क्योंकि अब उन्हें पोषण नहीं मिल रहा था। अणुवीक्षण यंत्रसे देखनेपर यह स्पष्ट हो गया कि वे कीटाणु नष्ट होते जा रहे हैं। उपचारके तीसरे सप्ताहमें जहां-तहां दो-एक कीटाणु बच गये थे और चौथे सप्ताहमें तो उनका नामोनिशान भी नहीं रहा रोगीकी शक्ल बिलकुल बदल गयी, यहांतक कि उसे पहचानना भी मुश्किल हो गया। रोगीकी प्राकृतिक शक्तिने वह कर दिखाया जो सरकारी उपाधिधारियोंकी सारी विद्या मिलकर भी नहीं कर सकती थी और यह सब बिना दवा या नश्तरका प्रयोग किये केवल उपर्युक्त उपायसे संपन्न हुआ।

## अंत्रवृद्धि

आंत उतरनेका कारण उदरमें विजातीय द्रव्यके लदावके साथ-साथ अत्यधिक तनाव है। अंत्रच्छदमें जहां रुकावट पड़ती है वहां आंत अधिक भार होनेके कारण अंत्रच्छदको विदीर्ण कर बाहर निकल आती है। भेदन-

की यह क्रिया सभी रोगियोंमें एक ही जगह नहीं होती, विभिन्न स्थलों-पर हुआ करती है, पर सबका कारण एक ही होता है, इसलिए आघात, पात तथा इस तरहकी अन्य दुर्घटनाओंको इसका कारण मानना भूल है। दुर्घटनाएं भेदनका तात्कालिक कारण हो सकती हैं, पर उसका मूल कारण नहीं हो सकतीं। मेरी पद्धतिसे विकृत द्रव्य बाहर निकाल देनेपर यह भेदन या विदारण भी ठीक हो जाता है। इस हालतमें कमानीका प्रयोग करना, जो रोगको दूर करनेमें कभी समर्थ नहीं होती, बिलकुल अनावश्यक हो जायगा।

इस रोगमें भी मेरी पद्धतिको बड़ी सफलता मिली है। इसमें भी हमारा रोगोंकी एकतावाला सिद्धांत ही लागू होता है। आरोग्य-लाभके लिए आवश्यक समयकी अवधि विजातीय द्रव्यकी मात्रा और भेदनके नया या पुराना होनेपर निर्भर है। अगर रोगी वृद्ध हो तो उसमें जीवशक्तिकी मात्रा पहलेसे ही कम होगी, इसलिए युवकोंकी तरह पूर्ण आरोग्यलाभकी आशा नहीं की जा सकती।

# कर्कटिका (कैंसर) और मांसांकुर याबढ़ा हुआ मांस

कर्कटिका रोग, जिसकी भयंकरतासे सब लोग डरा करते हैं, बाहरी प्रभावों या उनके कारण होनेवाली विकृतियोंका परिणाम नहीं है। इसका मूल शरीरमें होनेवाली उन क्रियाओंमें ढूंढ़ना चाहिए जो इस ध्वंसक रोगका क्षेत्र या कारण प्रस्तुत करती हैं। शोथ और क्षयकी ही तरह यह रोग भी उन पूर्ववर्ती रोगोंका परिणाम होता है जो अंदर दबा दिये गये होते हैं। इस प्रकार यह रोग हमेशा पूर्ववर्ती रोगों— विशेषकर उपदंश-जैसे यौन रोगोंका अनुगमन करता है। ये रोग स्वतंत्र रूपसे उत्पन्न हुए हैं या संक्रमणसे आये हैं, इसकी कोई विशेषता नहीं है। मुख्य बात विजातीय द्रव्यकी विद्यमानता है जो शरीरसे बाहर निकलनेका कोई मार्ग चुन लेता है और वहां मांसका बढ़ना, अर्बुदका बनना या गलना शुरू होता जाता है। जो बहुत भयंकर होता है। मेरे आकृतिविज्ञानकी सहायतासे कर्कटिकाकी पूर्वप्रवृत्ति वर्षों पहले पहचानी जा सकती है। रोग प्रकट होनेके बहुत दिन पहले ही गर्दनपर सूजन और गांठ देखी जा सकती हैं जो सारे शरीरमें, विशेषकर उदरमें (अर्शके कारण बने) अर्बुदोंके होनेकी सूचक होती हैं। ये अर्बुद यहांतक बढ़ जा सकते हैं कि पाचन-प्रणालीका मार्ग अवरुद्ध हो जाय और मल अपने साधारण रूपमें न निकल सके। जिनका रोग बढ़ा हुआ है उनमें पाचन-प्रणालीका अवरुद्ध होना अवश्य देखा जाता है और जुलाब या एनिमाका सहारा न लेनेपर मलका बाहर निकलना असंभव होता है। बहुत दिनों-तक जुलाब लेते रहनेपर गलनेकी अवस्था प्रस्तुत हो जाती हैं जिसकी चरम परिणति यक्ष्मा और खासकर कर्कटिकाके रूपमें होती है। शरीर जुलाब और उससे होनेवाले पाचनांगों और उदरकी नाड़ियोंके उत्तेजनको वर्षों बर्दाश्त कर लेता है, पर बादमें नाड़ियां इस कदर शिथिल हो जाती हैं कि बढ़ा हुई मात्रामें उत्तेजक औषध न मिलनेपर वे कार्य करनेमें

बिलकुल असमर्थ हो जाती हैं। कर्कटिका-जैसे भीषण रोगकी उत्पत्तिका यही कारण होता है। पूर्ववर्ती रोगोंके परिणामस्वरूप होनेवाले यक्ष्मा और शोथकी ही तरह अप्राकृतिक रहन-सहन, अतिभोजन और उत्तेजक पदार्थोंका अत्यधिक सेवन, औषधोंके कारण होनेवाला नाड़ी-संस्थानका उत्तेजन आदि ही कर्कटिकाके भी कारण होते हैं। पूर्ववर्ती रोगोंकी चरम परिणतिके रूपमें प्रकट होनेवाले अन्य रोगोंकी तरह इस रोगमें भी एलोपैथिक डाक्टरोंका कोई वश नहीं चलता। बढ़े हुए अंशपर डाक्टरोंको तेजाब या छुरीका प्रयोग करते देखकर दुःख होता है। वे कभी यह जांच करनेका खयाल ही नहीं करते कि, यह बढ़ा हुआ अंश आया कहांसे है। रोगका स्वरूप उन्हें अज्ञात ही रहता है, अन्यथा वे अंतिम लक्षणके रूपमें प्रकट होनेवाले विजातीय द्रव्यके इस भागको उपचारका विषय कभी न बनाते; वे तब यह देखने-समझनेका प्रयत्न करते कि इस वृद्धिका कोई कारण अवश्य होगा और उसी कारणको दूर करनेपर अपना ध्यान केन्द्रित करते।

गलने अर्थात् कर्कटिकाकी अवस्था प्रस्तुत होनेपर प्रायः असह्य पीड़ा और विशेष प्रकारका संवेदन भी होता है, जो बहुत बुरा मालूम होता है। रोगीको आराम पहुँचानेके खयालसे औषधोपचारक मॉर्फियाका इंजेक्शन देते हैं जिससे थोड़ी देरके लिए तो अभीष्ट फल प्राप्त हो जाता है, पर यह फल-प्राप्ति सारे शरीर और नाड़ीसंस्थानको क्षति पहुँचाकर ही होती है जो आगे चलकर प्रकट होती है। ओषधिविज्ञान ठीक उस जड़-बुद्धि नौकरका-सा कार्य करता है जो अपने मालिकके मुंहपर बैठी हुई मक्खीको मारनेके लिए पत्थरका आघातकर मक्खीके साथ अपने मालिकको भी मार डालता है।

हम विषयोंका प्रयोग क्यों करें जब हमारे पास ठंढ लानेवाले स्नानोंके रूपमें ऐसे साधन मौजूद हैं जो पीड़ाको मॉर्फियाकी अपेक्षा अधिक सफलताके साथ दूर करनेके साथ ही अंगोंको भी दृढ़ और सबल बनाते हैं। इनसे मॉर्फियाकी प्रवृत्ति भी आप-ही-आप दूर हो जाती है। इसका

सेवन करनेपर भी शरीर मद्यादिकी विकृत तृषाकी ही तरह मादकताकी मांग करता है; क्योंकि वह भी शरीरमें प्रदाह या सड़नेकी अवस्था प्रस्तुत होनेपर ही उत्पन्न होती है। केवल प्राकृतिक उपचारद्वारा इस बढ़ती हुई प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस रोगके कारण और स्वरूपका आगे चलकर विस्तारके साथ उल्लेख किया जायगा, यहां मैं आरोग्यलाभकी संभावनाओंपर दो-चार शब्द कह देना उचित समझता हूं। मुख्य बात यह है कि रोगके रूप और उसके प्रकट होनेके स्थानकी कोई विशेषता नहीं है। वह चाहे जीभमें हो या सीनेमें, गर्भाशयमें हो या उदरमें—यह गौण विषय है। चाहे जिस रूपमें वह प्रकट हो, आरोग्य-लाभपर उसका कोई विशेष असर नहीं होता; क्योंकि सबका कारण एक ही होता है। विजातीय द्रव्यके लदावके अनुसार विकृत द्रव्यका पिंड, खमीरकी क्रिया और उसके न्यूनाधिक दबावके कारण अपने स्थानसे हट जाया करता है।

मेरी पद्धतिका प्रयोगकर यह रोग भी अच्छा किया जा सकता है। जिनका पाचन साधारणतः अच्छा होगा और अनिवार्य उभारकी अवस्थापर विजय प्राप्त करनेयोग्य जीवशक्ति होगी और साथ ही जो मेरी पद्धतिसे भलीभांति परिचित होंगे वे ही इस रोगसे छुटकारा पा सकते हैं; क्योंकि यह भी क्षय और शोथकी ही तरह बहुत खतरनाक होता है।

पचास वर्षके एक व्यक्तिकी नाकमें यह रोग हो गया। उसने कई प्रसिद्ध डाक्टरोंसे इसका उपचार कराया, पर वे इसके कारण और स्वरूप-से परिचित न होनेकी वजहसे इसे अच्छा नहीं कर सके। सबने स्थानिक लक्षणोंको दूर करनेके लिए नाकपर तेज विषैली दवाओंका प्रयोग किया, पर जिस प्रकार किसी शाखाके सूख या सड़ जानेमें ही वृक्षका क्षय सीमित नहीं होता उसी प्रकार इस रोगमें भी बाहरका बढ़कर गलने-वाला भाग रोग नहीं होता, बल्कि वह भाग होता है जहां यह सबसे अधिक बढ़े हुए रूपमें प्रकट होता है। वृक्षकी शाखाका सूखना या सड़ना

उसका स्थानिक विकार नहीं होता, यह बात वृक्षके काटनेपर बिलकुल स्पष्ट हो जाती है; उसी प्रकार शवच्छेद करनेपर औषधोपचारक भी निश्चित रूपमें देख सकता है कि कर्कटिकाके रोगीका सारा शरीर ही रुग्ण होता है। अगर पहले ही उसकी पहचान हो जाय तो यह रोगीके लिए बड़े फायदेकी बात होगी।

यह रोगी वर्षोंसे भीषण मंदाग्निसे पीड़ित था। इसपर ध्यान न देकर डाक्टर नाकसे ही उलझे रहे। अगर उन्हें मेरे आकृतिविज्ञानसे परिचय होता तो नाककी सड़नेकी अवस्थासे, उदरमें वही अवस्था होनेका पता उन्हें अवश्य चल गया होता। मेरा उपचार आरंभ करनेके समय नाक और ऊपरका होठ सड़ रहा था और नाककी नोक गायब ही होने-वाली थी, कब्ज बराबर बना रहता था, पेशाब भी नियमित रूपमें नहीं होता था और इसमें पीड़ा भी होती थी। शरीरमें जीवशक्ति पर्याप्त मात्रामें मौजूद थी इसलिए उपचारका प्रभाव शीघ्र देख पड़ने लगा। पाचन तथा शरीरकी साधारण अवस्था जल्द ही सुधर गयी। बिना किसी स्थानिक उपचारके नाकका प्रदाह कम होता गया। चार मासमें ही नाक और होठ भीतरसे भर आया और जख्मका कोई चिह्न भी नहीं रहा।

जिन उपायोंका प्रयोग किया गया वे पूर्णतः अनुत्तेजक थे। शरीर और पाचनके अनुकूल शुष्क आहार, कटि और मेहनस्नान, सप्ताहमें एक या दो बार वाष्प-स्नान, कभी-कभी सिरका वाष्प-स्नान आदि उपाय काममें लाये गये। ठंढ लानेवाले स्नान तो दो-दो घंटेपर चलते थे। स्नानोंके समय पीड़ा कम पड़ जाती थी। दूसरे ही दिन अंदरका प्रदाह नीचेकी ओर हटने लगा जो घर्षणके स्थानपर हुए जख्मसे स्पष्ट हो गया। उपचारकालमें वृक्कोंका एक पुराना रोग भी प्रकट हुआ जो पहले दबा दिया गया था। यही कर्कटिकाकी उत्पत्तिका कारण हुआ था। नाकसे निकलनेवाले पूयसे उस दवाकी गंध स्पष्ट रूपमें आती जान पड़ी। शरीर इस प्रकारके विषको श्लेष्मामें लपेट देता है। यह अंदर ही पड़ा

रहता है और कालान्तरमें अंदरकी गर्मीसे सूखकर कोमलास्थिका रूप धारण कर लेता है। जलोपचारसे यही पदार्थ घुलकर बाहर निकलता है और यही पीड़ाका कारण होता है। यही बात इस रोगीमें भी हुई।

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मेहनस्नानमें घर्षणवाला स्नान हर हालतमें जख्मी हो ही जायगा। कर्कटिका-जैसे जीर्ण रोगोंमें घर्षणसे होनेवाला जख्म विशेष अवस्थाओंमें और एक खास शक्लका होता है। अगर भीतर प्रदाह न हो या विजातीय पदार्थ दूसरे मार्गसे निकल जाय तो यह बात कभी न होगी। बहुतसे रोगियोंने दो-दो घंटेतक दो-दो वर्ष स्नान चलाया है, पर उनमें यह बात नहीं हुई; सिर्फ कुछ लोगोंको थोड़ी देरके लिए उभारमें प्रदाह नीचेकी ओर जाते समय कुछ कष्ट हुआ। बहुतसे रोगियोंको घर्षणके स्थानसे कुछ फासलेपर जख्म हुए जिनके पूय-का, जो खमीरके रूपमें विजातीय द्रव्य था, स्राव होता था। कुछ लोग समझते हैं कि घर्षणसे ही पूय निकलता है, पर यह बात नहीं है। यह अंदरके प्रदाहसे, जिसका कारण विजातीय द्रव्यका खमीर बनना है, उत्पन्न होता है और यह पूय ही उभारका कारण होता है इसलिए मेरी पद्धतिका अनुसरण करनेवालोंको ऐसे जख्मोंसे डरना नहीं चाहिए। यह इस बातका प्रमाण है कि शरीर विजातीय द्रव्यके निष्कासनमें संलग्न है और निश्चित रूपमें आरोग्यकी प्रक्रिया चल रही है। अंदरका प्रदाह सड़न पैदा करनेवाला होनेपर जख्म और पूय अधिक निकलता है। इस हालतमें जख्मपर गीला कपड़ा लपेटकर उसे तर रखना चाहिए।

पचास वर्षकी एक स्त्रीको बायें स्तनमें कर्कटिका हुई और उसमें चीरा लगाया गया। इसके कुछ ही दिन बाद दाहिना स्तन भी आक्रांत हो गया जिससे पहले नश्तरकी व्यर्थता स्पष्ट हो गयी और स्त्रीकी हालत भी पहलेसे खराब हो गयी। डाक्टरोंने इसमें भी नश्तर लगाना आवश्यक बतलाया, पर कमजोरी ज्यादा होनेके कारण इसमें जान जाने-का खतरा था और कोई उपाय भी नहीं था। जर्मनके सबसे अच्छे डाक्टरके इस तरह जवाब दे दे पर वह घबराहटकी हालतमें मेरे यहां

आयी। स्तन गल रहा था और स्तनसे लेकर कांखतक कई कड़े और काले अर्बुद निकल आये थे जिनमेंसे कई तो अंडेके बराबर थे। उदर भी कड़े-कड़े अर्बुदोंसे भरा हुआ था। पाचन तो खराब था ही—तीसरे या चौथे दिन कुछ मल निकलता था और वह भी एनिमा लेनेपर। मलकी कड़ी-कड़ी कंडियां, जो अंदरकी गर्मीसे काली पड़ जाती थीं, निकला करती थीं। पेशाब भी कम ही होता था। जीवशक्तिका कम होना चिन्ताका कारण हो रहा था, विशेषकर तेज सिरदर्द इसे और भी कम करता जा रहा था। इस महिलाने बड़े उत्साहके साथ मेरा उपचार आरंभ किया। सिरदर्द कम पड़ गया और हर हफ्ते पाचनमें सुधार होता गया। उसकी अवस्था और शक्तिका विचारकर ठंढ लाने-वाले स्नानोंकी संख्या निर्धारित करनी पड़ती थी। छठे सप्ताहतक उप-चार कुछ कष्टकर प्रतीत हुआ। इस कालमें तथाकथित सफल शल्य-क्रियाका प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो गया। पहले ही सप्ताह बायें स्तनपर, जहां नश्तरका चिह्न था, खुला घाव हो गया जो चार सप्ताहतक फैलता और गहरा होता जाकर पंद्रह वर्गइंचका हो गया और दाहिने स्तनका गलना बायें स्तनमें होनेवाली वृद्धिके अनुपातमें कम होता गया। नश्तर-से रोगका कारण दूर नहीं हुआ था, सिर्फ खमीरका स्थान हटा दिया गया था। मेरे उपचारसे रोगको पीछेकी ओर लौटना पड़ा इसलिए नश्तरके समय बायें स्तनमें जो उसका तीव्र रूप था उसी रूपमें वह फिर प्रस्तुत हो गया। प्रकृति इस प्रकारके उग्र उपायका सहन नहीं करती यह इसमें प्रत्यक्ष हो गया। नियमपूर्वक ठंढ लानेवाले स्नानोंको चलानेसे शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंके कारण जो तकलीफ होती थी वह कम पड़ गयी। कुछ ही कालके अनंतर घर्षणके स्थानपर बहनेवाले खुले घाव हो गये। यह इस बातका प्रमाण था कि गलानेवाला प्रदाह नीचेकी ओर खिंच रहा है। कांखके पासतकके अर्बुद भी बिखरकर उदरकी तरफ आने लगे। आरंभमें दो मास उसे चोकरदार आटेकी रोटी और फलपर रखा गया। स्नानों और इस आहारके प्रभावसे वह तीन महीनेमें इस

कदर अच्छी हो गयी कि बायें स्तनपरका घाव करीब-करीब भर गया और वह अपने घर जा सकी।

मैंने इस रोगसे ग्रस्त कई व्यक्तियोंका उपचार किया है। एककी जीभमें और एकके गलेमें यह रोग हुआ था। गलेके अंदरके कड़े अर्बुद कुछ ही सप्ताहमें मुलायम पड़ गये और उनसे पूय निकलने लगा और तब रोगी बिना कष्टके ग्रास निगलने लगा। जीभवाले रोगमें ठंढे स्नानके बाद भूरी-सी परत निकला करती थी। वहांके अर्बुद निम्नांगोंके अर्बुदोंकी अपेक्षा अधिक शीघ्रतासे गायब हुए जिससे जीभकी अवस्था शीघ्र ही साधारण हो गयी।

रोगके इन विभिन्न रूपोंमें सबसे खतरनाक उदरके अर्शवाले अर्बुद होते हैं। ठोस पदार्थ ग्रहण न कर सकनेवाले रोगियोंकी भी कठिन पीड़ा दूरकी जा सकती है और इस प्रकार मॉर्फियाकी प्रवृत्ति और पोषण न प्राप्त होनेकी अवस्थाका निराकरण किया जा सकता है; अर्बुदोंको घुलाकर अनिद्राका भी अंत किया जा सकता है, पर वास्तविक आरोग्यकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी; क्योंकि आहारमें बराबर तरल पदार्थ ही मिलनेसे मलविसर्जनकी क्रिया साधारण रूपमें नहीं हो सकेगी।

दम घुटनेकी-सी अवस्थामें, जो रोगके भीषण रूप ग्रहण करनेपर प्रायः प्रस्तुत हुआ करती है, मेहनस्नान बहुत प्रभावकारी होता है। कई रोगियोंको रोज कई बार दौरा होता था, पर स्नान शुरू करनेपर कुछ ही मिनट बाद इसका खतरा दूर हो जाता था। गलेका अर्बुद श्वासनलिकामें उतरनेपर या घुलनेके पूर्व उसमें सूजन पैदा कर देता था और यही सूजन दम घुटनेका कारण बन जाती थी।

## मांसांकुर

क्षतवाले स्थानोंपर निकलनेवाला मांसांकुर कर्कटिकाकी अपेक्षा बहुत कम खतरनाक होता है। यह जल्द ही अच्छा भी किया जा सकता है; क्योंकि इस अंकुरको अल्पकालमें ही पूयमें परिणत किया जा सकता है।

इस प्रकार विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेमें बहुत कम समय लगता है। मेरे उपचारमें यह बात प्रायः देखी गयी है जो निम्नलिखित विवरणसे भलीभांति स्पष्ट हो जायगी।

तीस वर्षकी एक महिलाकी तर्जनीकी हालत कुछ दिनोंसे खराब थी। एक चोटसे उसके छोरपर जलन पैदा हो गयी और अंतमें उस जगह मांस बढ़ गया। उसके चिकित्सकने उस बढ़े हुए भागको काटकर निकाल दिया और तेजाबसे उसे जला दिया, पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ; क्योंकि काटकर निकाल देनेपर मांस फिर बढ़ जाता था। अंतमें अंगुलीका सड़ना शुरू हो गया। अब चिकित्सकने उसे अंगुली कटवा देनेकी राय दी; क्योंकि रोग हड्डीतक पहुंच गया था और उसे आगे बढ़नेसे रोकना जरूरी था। वह चिकित्सकके इस प्रस्तावसे सहमत न होकर मेरे पास चली आयी। मैंने उसे बतलाया कि उंगली काटकर निकालना अनावश्यक ही नहीं, शरीरके लिए हानिकारक भी है; अंगुलीके रोगका एक विशेष कारण है जिसके दूर होनेपर ही अंगुली अच्छी हो सकेगी। मैंने उसे रोज आधे-आधे घंटेके तीन-चार मेहन (उपस्थ)-स्नान, अनुत्तेजक आहार और तीन-चार दिन मेहन (उपस्थ)-स्नानके पहले स्थानिक वाष्पस्नान चलानेको कहा। पहले तो उसने अनिच्छा प्रकट की, पर मेरे लाचारी जाहिर करनेपर अंगुली काटनेके भयसे तैयार हो गयी। बड़ी शीघ्रतासे उसको आरोग्य लाभ होने लगा। पहले ही स्नानके बाद मांसका बढ़ना रुक गया और तीसरे दिन मांस पूयमें परिणत होने लगा जो सुधारका सूचक था। सड़ानकी क्रिया भी बंद हो गयी जिससे हड्डियों और अंगुलीके संबंधकी सारी आशंका जाती रही। दो सप्ताहमें ही अंगुली बिलकुल अच्छी हो गयी और उसमें जख्मका कोई निशान भी नहीं रहा।

# क्षत आदिका प्राकृतिक उपचार

अस्त्र-चिकित्साके सिद्धांतोंके अनुसार चीरा लगानेके पक्षमें जो धारणा बद्धमूल हो गयी है उसे निकाल बाहर करना आसान काम नहीं है। प्रचलित विश्वास यह है कि भीतरी या बाहरी सभी प्रकारके घाव या क्षत केवल अस्त्र और पाक-निवारण औषधों (एंटिसेप्टिक) द्वारा अच्छे किये जा सकते हैं। यह विश्वास कितना भ्रममूलक है यह मेरी पद्धतिसे प्राप्त सफलताओंसे भलीभांति सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः ऐसे ही अवसरोंपर जल-चिकित्साकी आरोग्यदायक शक्ति स्पष्ट रूपमें देखी जा सकती हैं।

इस पद्धतिमें कष्टका तो नाम भी नहीं है, तथाकथित पाक-निवारण औषधोपचारमें जितना समय लगता है उसके तृतीयांशमें ही हर तरहका क्षत अच्छा हो जाता है। यह अबतक कभी असफल भी नहीं हुई है। एक दूसरा बड़ा लाभ यह है कि चीरा अपने पीछे जो बदशक्ल करनेवाला निशान छोड़ जाता है उसके होनेकी तो कोई बात ही नहीं, घावका भी कोई चिह्न नहीं रह पाता।

कोई क्षत होने—कटने, छिद जाने, जलन या पालेसे गलनेपर शरीर उसे ठीक करनेके कार्यमें तत्काल संलग्न हो जाता है। क्षत होनेपर नाड़ियां क्षुब्ध होकर रक्त तथा अन्य पदार्थ स्थान ग्रहण करनेके लिए क्षतकी जगह पहुंचाने लगती हैं और तब एकत्र होनेवाले पदार्थोंके संघर्षके कारण वहां सूजन होनेके साथ गर्मी बढ़ जाती है; छिदने और जलनेकी हालतमें तो पीड़ा भी अधिक होती है। अगर शरीरकी सुधारके इस क्रियामें उचित ढंगसे सहायता की जाय तो क्षत बिना किसी कष्टके जल्द ही ठीक हो जायगा।

शरीरका यह कार्य आरंभ होनेपर ही पीड़ा भी शुरू होती है। वह क्षतके कारण होनेवाले स्थानिक विकारसे उत्पन्न ज्वरके अतिरिक्त और

कुछ नहीं है। अगर हमें यह स्मरण रहे कि और रोगोंकी ही तरह क्षतमें भी हमें रूप भिन्न होनेपर भी ज्वरसे ही निपटना हैं तो आरोग्यलाभका मार्ग प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। इसलिए हमारा प्रयत्न इस ज्वरको, विशेषकर क्षतका विस्तार अधिक होनेपर, घटानेका ही होना चाहिए। जिसमें यह स्थानिक ज्वरावस्था शरीरव्यापी होनेसे रोकी जा सके।

अगर हम ज्वर रोकनेमें समर्थ हो जायं तो पीड़ा तत्काल दूर हो जायगी। ज्वर शरीरका आरोग्यकारक और क्षति-पूरक प्रयत्न होता है—इसका प्रमाण जैसा इसमें मिलता है वैसा और किसीमें नहीं। दुर्भाग्यवश आजकल क्षतजन्य स्थानिक ज्वरका सारे शरीरमें व्याप्त हो जाना एक आम बात हो गयी है जिससे घावके सूखनेमें बहुत अधिक समय लगा जाता है। इसका एक प्रबल कारण है। स्वस्थ व्यक्तियोंका घाव बहुत जल्द और आसानीसे भर जाता है, पर जिनका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ है और जो इसकी वजहसे पहलेसे ही आंतरिक ज्वरसे ग्रस्त हैं उनमें यह बात नहीं होती। ऐसे लोगोंमें क्षत और उनके साथ होनेवाला नाड़ियोंका क्षोभ बढ़ी हुई मात्रामें खमीर बननेका कारण हो जाता है। यह स्थिति न होनेपर भी आरोग्य-लाभमें समय अधिक लग जाता है। शरीर क्षतवाले स्थानमें अधिक मात्रामें रक्त पहुंचा देता है जिसके परिणाम-स्वरूप वहां और अधिक विजातीय द्रव्य एकत्र हो जाता या वहां खुले घावके रूपमें उसके निकलनेका मार्ग बन जाता है।

मैंने प्रायः देखा है कि जानवरोंका क्षत, अगर उन्हें कोई मदद न पहुंचाकर बिलकुल यों हो छोड़ दिया जाय तो, अत्यल्पकालमें ही अच्छा हो जाता है। इन प्राकृतिक घटनाओंका निरीक्षण करते समय मनुष्यों और जानवरोंके क्षतोंके ठीक होनेमें लगनेवाले समयका अत्यधिक अंतर देखकर मैं चकित रह जाता था। प्रकृतिके रहस्योंका अध्ययन और मनन करनेके लिए इन जानवरोंसे मुझे सबसे अधिक प्रेरणा मिली है। किसी समय और लोगोंकी तरह मेरी भी यही धारणा थी कि आघात आदि

होनेकी हालतमें मनुष्योंके, जिन्हें सारे वैज्ञानिक साधन और मित्रोंकी प्रेमपूर्ण सेवा-शुश्रूषा उपलब्ध है, मुकाबलेमें इन जानवरोंकी स्थिति बहुत गयी-बीती है, पर अनुभवसे मैं इसी निष्कर्षपर पहुंचा हूं कि अस्पतालमें उपचार करानेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा जानवरोंके घाव अधिक शीघ्रतासे अच्छे होते हैं। यह कोई संयोगकी बात नहीं है, इसके मूलमें एक प्रबल कारण है। एक उदाहरणसे यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जायगी।

एक बिल्ली लोहेके फंदेमें फंस गयी जिससे उसका पीछेका दाहिना पैर बीचके जोड़के कुछ ऊपर टूट गया। पांवको मुक्त करनेके प्रयत्नमें वह फंदेको घसीटती फिरी जिससे उसका पर उसमें कई जगह ऐंठ गया और जख्मपर धूल, भूसी आदि लिपट गयी। फंदेसे मुक्त होनेपर वह टूटे हुए पैरको झुलाती हुई चली गयी। तबसे कुछ दिनोंतक उसका कोई पता नहीं चला जिससे लोगोंने समझ लिया कि वह मर गयी होगी।

एक सप्ताह बीता होगा कि वह पासकी ही एक बखारीसे देखी गयी। तबतक उसका घाव आश्चर्यजनक रूपमें भर गया था। हां, टूटे हुए स्थानपर सूजन ज्यादा थी। उसकी क्षीण अवस्थासे यह स्पष्ट था कि उसने एक सप्ताह कुछ नहीं खाया है। यही नहीं, अच्छे-से-अच्छा खाद्य पदार्थ देनेपर भी उसने नहीं खाया, न जलका ही स्पर्श किया। वह जख्मी पैरको सावधानीसे एक ही स्थितिमें फैलाये रखती थी और सारे जख्मको कभी-कभी चाटती रहती थी। स्पष्ट ही इससे उसकी पीड़ा कम हो जाती रही होगी; क्योंकि वह बड़ी मुस्तैदीसे चाटना जारी रखती थी। बिल्ली-के कुछ भी न खानेका विशेष कारण था। जैसा कि हम लोग जानते हैं, पाचनक्रिया एक तरहसे खमीरकी ही क्रिया है और इस क्रियामें तापका उत्पन्न होना अनिवार्य है। चूंकि जख्मको ठंढा रखनेके लिए वह पानीका उपयोग नहीं कर सकती थी इसलिए उसने खाना बिलकुल छोड़ दिया जिसमें शरीरमें गर्मी न पैदा होने पाये। उसे क्या करना चाहिए इसका आदेश उसकी पशुबुद्धि उसे दे दिया करती थी। कुछ दिनोंके बाद वह बिल्ली, जो क्षीण होकर अस्थिपंजरमात्र रह गयी थी, बाहर नजर आयी।

दूध पीनेपर वह फिर तरोताजा हो गयी और एक महीनेमें तो हालत पूर्व-वत् हो गयी। अब वह मजेमें दौड़ लेती थी। जख्मकी जगहपर एक गांठ-सी हो गयी थी, पर उससे उसकी गतिमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी।

अब जरा किसी मनुष्यके संबंधमें इस तरहकी घटनाकी कल्पना कीजिए। शायद उसका पैर काटकर निकाल दिया जाना अनिवार्य हुआ होता और जख्म ठीक होनेमें महीनों लग गये होते। अच्छा होनेपर भी वह आजीवन पंगु ही रहता। अगर पैर काटकर निकाला न भी गया होता तो भी उसका पैर कड़ा होकर लकड़ीकी तरह सीधा हो गया होता और जीवनभर वैसा ही बना रहता।

क्षतोंके उपचारका रूप स्पष्ट करनेके लिए पशु-जगत्से ही मैं और दो उदाहरण दे रहा हूं। एक कुत्तेको कई छर्रे लग गये थे। जिनमेंसे कुछ तो पैरको पारकर निकल गये थे और दो गर्दनमें घुसकर दूसरी ओर चमड़ेके पास रुके रह गये थे। खैरियत यही थी कि श्वास तथा अन्न-नलिकाएं और मुख्य नाड़ियां क्षतिग्रस्त नहीं थीं। जख्मोंमें पीड़ा होनेपर कुत्ता ठंढी और छायादार जगहकी तलाश करता और शरीरको, विशेषकर जख्मवाले हिस्सेको ताजी मिट्टीपर, जिसे वह एक जगहकी मिट्टी गर्म होनेपर दूसरी जगह कुरेदकर निकाल लिया करता, ठंढा किया करता था। वह कुछ भी न खाकर जख्मोंको बराबर चाटता रहता और रोज पासके ही एक जलाशयमें पानी पी आता जो उसका एकमात्र पोषण था। जख्म तेजीसे अच्छे होने लगे। पांचवें दिन उसके जख्म कुछ सूजे हुए थे पर करीब-करीब भरे देख पड़े। गर्दनके जख्म, जो पैरके जख्मोंसे हलके थे और जिन्हें वह चाट भी नहीं सकता था, धीरे-धीरे अच्छे हुए। आहत होनेपर लगभग एक सप्ताह उसने कुछ नहीं खाया। छर्रे गलेके अंदर ही पड़े रहे।

एक कुत्तेका दाहिना पंजा गाड़ीके पहियेसे दब गया जिससे चमड़ा उचड़ गया और हड्डियां भी टूट गयीं। चलनेमें असमर्थ होनेके कारण वह उठाकर घर पहुंचा दिया गया। वहां वह रेंगते हुए एक छायादार

स्थानपर चला गया और बराबर अपना पंजा चाटता रहा। चार दिनोंतक, जबतक जख्म काफी अच्छा और वह तीन टांगोंपर चलने योग्य नहीं हो गया, उसने कुछ भी नहीं खाया। बीस दिनोंमें वह बिलकुल ठीक हो गया।

इन उदाहरणोंसे मनुष्योंके जख्मोंके उपचारके संबंधमें कई बात जानी जा सकती हैं। इस हालतमें पानीसे ठंढ पहुँचाना, खाना बिलकुल न खाना या गर्मी उत्पन्न करनेवाली चीजोंसे परहेज करना ही प्राकृतिक उपाय है।

अस्पतालोंमें होनेवाले अस्त्रोपचारमें जीवशक्ति बढ़ानेके लिए मांस, अंडा, दूध, शराब आदि पौष्टिक चीजें दी जाती हैं, पर यह बिलकुल गलत है। यह सबसे बुरा और प्राकृतिक नियमोंके बिलकुल उलटा होता है। मेरी रायमें जख्मका उपचार चलाते समय आरंभिक अवस्थामें तो खाना बिलकुल नहीं देना चाहिए जिसमें शरीरपर कोई भार न पड़े; क्योंकि शरीरके आरोग्यकारक प्रयत्नमें यह बाधक हुआ करता है। जख्मोंके उपचारमें पाक-निवारणके लिए कारबोलिक एसिड, आयडिन, कोकेन आदिका प्रयोग स्पष्ट रूपसे बतलाता है कि औषध-विज्ञानको शरीरके अंदर चलनेवाली क्रियाओंके स्वरूप और विशेषताका कितना कम ज्ञान है। जल-चिकित्सासे प्राप्त होनेवाले आरोग्यकी जानकारी न होनेके कारण ही सर्जन रास्तेसे दूर भटकते जा रहे हैं।

## कटने, छिदने आदिके जख्म

कटने, छुरा भोंके जाने, आघात लगने आदिसे बड़ी या छोटी रक्त-वाहिनियां खुल जाती हैं और बाहरसे कोई रोक न होनेकी हालतमें भीतरके दबावके कारण रक्त बाहर निकाल देती हैं। इस प्रकारके जख्मोंके उपचारमें इस प्रक्रियाका विशेष स्थान है, इसलिए इसपर जरा विस्तारके साथ विचार करना ठीक होगा।

हमारे ऊपर पंद्रह पौंड फी वर्गइंचके हिसाबसे वायुका भार रहता है।

अगर अंदरकी ओरसे इसके मुकाबलेमें दबाव न होता तो हमारा शरीर इस भारको कभी बर्दाश्त न कर सकता। पर्वतारोहणकालमें कुछ पाठकों-ने इस दबावका अंतर अवश्य अनुभव किया होगा। ऊंचे पहाड़पर या वायुयान-यात्रामें ऊपरका भार इस कदर कम हो जाता हैं कि भीतरकी ओरसे अधिक दबाव होनेके कारण कभी-कभी मुंह, नाक, आंख और कानसे रक्त निकल पड़ता है और बाहरसे भीतरके दबावके मुकाबलेका दबाव प्रस्तुत हो जानेपर फौरन बंद हो जाता है। शरीरपर कोई घाव लगनेपर शरीरकी दीवार भंग हो जाती है जो रक्तके दबावको प्राकृतिक सीमाके अंदर रोके रहती है। जख्मसे फौरन खून निकल आनेका यही कारण होता है। हमें सबसे पहले रक्तका स्राव रोकनेका प्रयलय करना चाहिए। जख्मके आकारके ही अनुसार रक्तका न्यूनाधिक दबाव होगा और उसीके अनुसार बड़ी या छोटी रक्तवाहिनी क्षतिग्रस्त हुई होगी। भरसक रक्तनलिकाको नहीं बांधना चाहिए; क्योंकि रक्तकी संचलनक्रिया अवरुद्ध हो जानेसे यह उपचार प्राकृतिक नहीं होगा। इसके और भी उपाय हैं जो इससे कहीं अधिक कारगर होते हैं। हां, अगर बहुत बड़ी रक्तवाहिनी क्षतिग्रस्त हो जाय और अधिक रक्त निकले कि जानके लिए खतरा पैदा हो जाय और ऊपर पट्टी लगानेका कोई साधन प्रतुस्त न हो तो रक्तनलिका या अंगका बांधा जाना उचित माना जा सकता है।

रक्तके स्रावके साथ आम तौरसे पीड़ा भी होती है जिसे स्रावके साथ ही रोकनेका प्रयत्न करना चाहिए। रक्तका भीतरकी ओरसे होने-वाला दबाव और उसके साथ ही रक्तका स्राव रोकनेके लिए सूती कपड़े-की कई परतोंकी गीली पट्टीसे बढ़कर दूसरा कोई अच्छा उपाय नहीं है। अगर संभव हो तो पीड़ा कम न होनेतक जख्मवाला हिस्सा ठंढे पानीके अंदर रखा जाय। इस स्थितिमें उसे घंटों रखना पड़ सकता है। अगर यह संभव न हो तो कुछ समयका अंतर दे-देकर उसपर ठंढा पानी गिराया जाय जिसमें पट्टी बराबर तर रह सके।

पट्टीकी तहोंकी संख्या जख्मके रूप—अंदरके रक्तके दबावके रूप—

पर निर्भर है। छोटे जख्मोंके लिए दो, चार या छह तहोंकी पट्टी हो, पर बड़े जख्मोंके लिए दस, पंद्रह, बीस या तीस तहें की जा सकती हैं। अगर बड़े जख्मपर लगायी जानेवाली पट्टी उसके अनुरूप न होकर पतली हो तो न तो रक्तस्राव जल्द रुकेगा और न जख्म ही जल्दी अच्छा होगा। पट्टी बहुत मोटी भी नहीं होनी चाहिए। अगर कटी हुई अंगुलीपर दो या चार तहोंवाली पट्टीकी जगह अधिक तहोंवाली पट्टी लगायी जाय तो जख्म अच्छा होनेमें समय अधिक लग जायगा।

पट्टी इतनी ही बड़ी हो जिसमें वह जख्मके चारों ओर एक इंच निकली रहे। इससे आस-पासके हिस्सेमें रक्त-संचलनमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। यह बड़े महत्त्वकी बात है। पट्टीके ऊपर सिर्फ ऊनी कपड़ा एक या अधिक बार लपेट दिया जाय। इससे पट्टी अपनी जगहपर जमी रहेगी, दबाव उचित रूपमें रखा जा सकेगा और गर्मी भी कायम रखी जा सकेगी। लगानेके पहले पट्टी ठंढे और भरसक हलके पानीमें डुबाकर हलके हाथों निचोड़ ली जाय। जबतक पट्टी ठंढ पहुंचाती रहेगी तबतक पीड़ा नहीं मालूम होगी। गर्म हो जानेपर पट्टी फिर ताजे ठंढे पानीमें डुबो दी जाय। अगर पीड़ा मालूम हो तो समझना चाहिए कि ठंढी पट्टी देनेकी जरूरत है। शुरूमें यह क्रिया बार-बार करनी चाहिए।

कुछ अवस्थाओंमें बार-बार पट्टीका प्रयोग करना उतना अच्छा नहीं होता; कपड़ेकी पट्टीके बजाय गीली मिट्टीकी पट्टी लगाना ज्यादा अच्छा होता है। साफ मिट्टी किसी पात्रमें रखकर ठंढे पानीसे गीली कर लीजिए और एक कपड़ेके टुकड़ेपर उसकी मोटी तह देकर जख्मपर इस प्रकार लगा दीजिए कि मांसका मिट्टीके साथ सीधा संपर्क हो सके। कुछ घंटोंके बाद पट्टी बदल दी जाय। मांसांकुर और गलनेवाले फोड़ेमें भी इस पट्टीका प्रयोग किया जा सकता है।

जलचिकित्साका यथार्थ ज्ञान न होते हुए भी औषधविज्ञानके अनुयायियोंने गीली पट्टीके प्रयोगमें एक सुधार करनेका प्रयत्न किया है। वे पट्टी और ऊनी कपड़ेके बीचमें रबर लगाते हैं। इस तरहकी पट्टी बहुत

कम फायदा करती है; क्योंकि इससे पट्टीके पानीका वाष्प बनना और शरीरका मुक्त प्रस्वेदन रुक जाता है। इस प्रकारका जलोपचार बिलकुल भ्रांतिमूलक है; इससे कभी अभीष्ट लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुत्तेजक आहार जख्मके अच्छा होनेमें बहुत सहायक होता है। आहार जितना ही कम और अनुत्तेजक होगा उतनी ही शीघ्रतासे जख्म भी अच्छा होगा। चोकरदार आटेकी रोटी, फल और पानी—जिसमें कुछ मिला न हो—बहुत अच्छा आहार है। जो खाद्य पदार्थ आसानीसे और जल्द पचनेवाले होते हैं वे सबसे अच्छे होते हैं; क्योंकि उनसे शरीरमें बहुत कम गर्मी पैदा होती है। जख्मोंके उपचारमें यह बड़े महत्त्वका विषय है।

एक और उपचार है जिसका प्रयोग जख्मको अच्छा करनेमें बहुत लाभदायक होता है। यह मेहन और कटिस्नान है। इन स्नानोंके प्रभावसे जख्मका ताप रुक जाता है और अगर वहां पैदा हो गया हो तो निकल जाता है। इसके साथ ही जीवशक्तिको भी उत्तेजन मिलता है जिससे आरोग्य-लाभकी प्रक्रिया तेजीसे होती है। जिनका शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा हुआ है उसके लिए तो ये स्नान और भी आवश्यक हैं। कुछ उदाहरणोंसे मेरा कथन भलीभांति स्पष्ट हो जायगा।

पैंतालीस वर्षके एक कारीगरके बाय हाथके अंगूठे और तर्जनीके बीचका मांसल भाग इतना जख्मी हो गया था कि मांस निकलकर मशीनके आरेपर चला गया; खैरियत यही हुई कि हड्डी साफ बच गयी। कुछ ही क्षणोंके बाद वह बेहोश हो गया और लगभग आधे घंटेतक होशमें नहीं आया। इस अरसेमें सूती कमीज तह करके उसपर लपेट दी गयी और रक्तका बहना करीब-करीब बंद हो गया था। इस तरह बंधा हुआ हाथ ठंढे जलमें डुबाकर रखा गया जिससे एक घंटेके अंदर पीड़ा बहुत कम हो गयी और एक दिनमें बिलकुल गायब हो गयी। ठंढा करनेकी क्रिया पहले दिन-रात चलायी गयी, पर चौथे दिन पट्टीका आकार छोटा कर दिया गया जिसमें हाथका शेष भाग मुक्त रह सके। उसपर लगभग बीस तहोंकी पट्टी लगा

कर ऊनी कपड़ेसे वह कस दी गयी। ऊनी कपड़ेने हाथके शेषांशको जल्द ही गर्म कर दिया जिससे रक्त-संचलनकी गति बढ़ गयी। पट्टी पहले आधे-आधे घंटेपर तर की जाती थी, पर बादमें समय बढ़ा दिया गया। लगभग एक पक्षमें जख्म इतना अच्छा हो गया कि उसपर अब पट्टी लगानेकी जरूरत नहीं रही। चार सप्ताहमें वह अपने इस हाथसे काम करने योग्य हो गया। यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि वह दूसरे ही दिनसे मेरे ठंढ लानेवाले स्नान भी दो बार करने लगा था जिससे जख्म अच्छा होनेमें बड़ी सहायता मिली। अस्त्रोपचारकी सहायता लेनेपर जख्म अच्छा होनेमें काफी समय लग गया होता और कष्ट भी अधिक हुआ होता। सर्जनने अवश्य ही जख्ममें टांके लगाये होते जिसके परिणाम-स्वरूप अंगूठा कड़ा और सुन्न पड़ गया होता।

मेरे उपचारसे जख्म जल्द ही अच्छा हो गया और उसका कोई चिह्न भी नहीं बचा। आरंभमें जख्म बहुत बड़ा होते हुए भी शरीर उसे भीतर से भरता गया और इसका किनारा अपने आप सूखकर निकल गया। इस क्षतसे नाड़ियोंके कई महत्त्वपूर्ण संबंध नष्ट हो गये थे और अंगूठेका आधा हिस्सा सुन्न हो गया था। जिससे वह बहुत दिनोंतक कोई छोटी चीज उससे नहीं पकड़ सकता था; पर कुछ दिनोंतक मेहन-स्नान चलानेपर पासकी नाड़ियोंका संबंध स्थापित हो गया और उसमें पुनः संवेदन होने लगा।

# बाहर तथा अंदरकी चोट

बाहरकी जिस चोटमें रक्त नहीं निकलता उसमें तथा अंदरकी चोट-में भी प्रायः रक्तके अर्बुद बन जाते हैं जो सारे शरीरको क्षुब्ध कर देते हैं। जिन चोटोंमें बाहरसे पहुंच नहीं हो सकती उनमें कटि और मेहन-स्नान बड़े प्रभावकर सिद्ध होते हैं। वे शरीरको अंदरसे ठंढा कर देते हैं और नाड़ियोंकी शक्ति बहुत बढ़ा देते हैं। अगर ये स्नान जमे हुए रक्त और खमीरसे बने हुए अन्य विकारोंको जल्द तितर-बितर करनेमें समर्थ न हों तो स्थानिक वाष्प-स्नानसे अच्छा फल प्राप्त किया जा सकता है पर इस स्नानके बाद शीघ्र ही ठंढ लानेवाला स्नान किया जाना चाहिए। वाष्प-स्नानके जरिये सारा विकृत द्रव्य मलमार्गोंसे बाहर निकलने योग्य रूपमें परिणत हो जाता है।

एक लड़कीने मोजे बुननेकी मशीनसे अपनी तर्जनी बेतरह कुचल डाली। पहले सप्ताहमें एक औषधोपचारक पाक-निवारणके सारे उपाय कर थक गया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। उसने आइडोफार्म, कारबोलिक आदिका खुलकर प्रयोग किया और लड़कीसे यहांतक कह दिया कि अंगुली या हाथ काट देनेकी भी जरूरत पड़ सकती है। लड़की भीषण पीड़ासे बेचैन थी। अंगुली सूजती जाकर नीली पड़ गयी। तीसरे सप्ताहमें सारा हाथ ही सूजकर नीला हो गयी। अब डाक्टर हाथ काट देना आवश्यक बतलाने लगा। लड़की भयत्रस्त होकर मेरे पास आयी। मैंने फौरन गीली पट्टी लगवाकर दो बार स्थानिक वाष्प-स्नानके साथ मेहन (उपस्थ) स्नान करवाया। दो ही घंटेके उपचारसे सारी पीड़ा हमेशाके लिए जाती रही। हाथ और अंगुलीकी सूजन भी हर घंटे कम पड़ती गयी और दो ही दिनोंमें उनका आकार और रंग साधारण हो गया। चौथा सप्ताह बीतते-बीतते वह उस हाथसे कुछ-कुछ काम भी करने लग गयी। इस प्रकार शल्यक्रियाका निवारण हो गया और लड़की विकलांग होनेसे बच गयी।

इसी प्रकारकी दुर्घटनामें ग्रस्त एक बढ़ईने लाचार होकर मेरी सहायता ली। उसके बायें हाथकी हथेली और उसका पृष्ठ भाग कुचलकर जख्मी हो गया था। पहलेके कटु अनुभवोंके कारण औषधोपचारमें उसका विश्वास नहीं रह गया था। कंधेतक उसका हाथ इतना सूज गया था कि वह उसे हिला भी नहीं सकता था। तीन घंटेसे कमके ही उपचारमें उसकी पीड़ा चली गयी और अठारह घंटेमें सूजन बिलकुल गायब हो गयी। एक ही पक्षमें वह अपने कामपर लौटने योग्य हो गया।

निम्नलिखित दो विवरणोंसे यह भलीभांति स्पष्ट हो जायगा कि पाक-निवारक औषधोपचार वस्तुतः क्षतको अच्छा न कर सिर्फ बीचकी अवस्था प्रस्तुत कर देता है।

एक ही मशीनपर काम करनेवाली दो लड़कियोंने एक ही ढंगसे अपनी-अपनी तर्जनी घायल कर ली। पहली पोरके ऊपरकी हड्डी कुचलकर टूट गयी थी, पर शेष भाग सुरक्षित था। एक लड़कीने एक डाक्टरसे पाकनिवारक उपचार कराया और दूसरीने मुझसे उपचार कराया। डाक्टरने शल्यक्रियाद्वारा भग्न अस्थि-खंडोंको निकाल दिया और आइडोफार्मका प्रचुरतासे उपयोग किया। लड़कीको कष्ट तो बहुत हुआ, पर एक सप्ताहमें जख्म इतना अच्छा हो गया कि बहुत आवश्यक होनेपर कुछ काम कर ले सकती थी। नश्तरके कारण पहला जोड़ बेकाम हो गया और अंगुलीका आकार भी विकृत हो गया। कई वर्षोंतक मौसम बदलनेपर उस अंगुलीमें पीड़ा होती रही और इसका एकमात्र कारण था गलत उपचार जिसमें विजातीय द्रव्य—आइडोफार्म—सीधे प्रविष्ट करा दिया गया था। उसमें बराबर झुनझुनी भी बनी रहती थी।

दूसरी लड़कीको, जो मुझसे उपचार करा रही थी, इससे कहीं अच्छा फल प्राप्त हुआ। पहले मैंने पीड़ा दूर करनेका प्रयत्न किया और इसमें पहले ही दिन सफलता भी मिल गयी। इसके लिए वही उपाय किया गया जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है—गीली पट्टी और ठंढ लानेवाले स्नान। स्नान इसलिए आवश्यक थे कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्य

बहुत अधिक था और कोई प्रयोग किये बिना ही भग्न अस्थिखंड तीसरे दिन आप-ही-आप निकल गये और उसे कोई कष्ट भी नहीं हुआ । छठे दिन जो सबसे बड़ा अस्थिखंड था वह भी निकल गया । एक महीनेमें वह कामपर जाने योग्य हो गयी । छह सप्ताहमें अंगुली बिलकुल ठीक हो गयी-न तो उसमें संवेदन-शक्तिकी कमी हुई, न अक्षमता आयी और न जख्मका कोई चिह्न पड़ा । मौसम बदलनेपर भी उसे कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। अच्छा सर्जन कौन सिद्ध हुआ—प्रकृति या पाक-निवारक औषधोपचार ?

एक आदमीका बायें टखनेका पेशीबंध भंग हो गया था । वह दो महीने खाट पकड़े रहा और उसपर लेपका प्रयोग करता रहा । जख्म तो अच्छा हो गया, पैरकी कमजोरी और सूजन बनी रही। चलते समय यह बात विशेष रूपसे लक्षित होती थी । पैर प्रायः मोच खा जाया करता था जिससे उसे बड़ी पीड़ा होती थी । दस वर्ष बाद उसने स्वास्थ्य खराब होनेपर मेरा उपचार शुरू किया और लाभ देखकर उसे बहुत दिनों-तक चलाता गया । आठ-नौ महीने बाद पैरमें फिर सूजन और पीड़ा शुरू हुई जो मेरे उपचारसे चौथे ही दिन चली गयी और इसके साथ ही उसका शारीरिक अपकर्ष और टखनेकी कमजोरी भी जाती रही ।

## जलनेका जख्म

जलनेकी हालतमें भी पीड़ा शांत करनेमें जलोपचार बहुत प्रभावकर होता है । पीड़ासे छुटकारा पानेके लिए जले हुए भागको कई घंटे पानीके अंदर रखना चाहिए । पानीमें रखनेके कुछ देर बाद पीड़ा कुछ बढ़ जायगी, पर शांत न होनेतक किसी तरह उसे सह लेना चाहिए । पीड़ा शांत हो जानेपर उसपर अन्य प्रकारके क्षतोंकी ही तरह गीले कपड़ेकी पट्टी लगा देनी चाहिए । कुएं आदिके पानीसे नदी या वर्षाका पानी अच्छा होता है; क्योंकि कुएं आदिके पानीमें प्रायः ऐसे द्रव्य मिले रहते हैं जो जख्मके सूखने-में तो बाधक होते ही हैं, पीड़ा भी बढ़ा देते हैं । इस उपायसे भीषण पीड़ाका भी आश्चर्यजनक रूपमें अंत हो जाता है ।

अगर जख्म सूखनेमें अधिक समय लगे तो समझना चाहिए कि शरीर-

में विजातीय द्रव्य बहुत अधिक है। इस हालतमें ठंढ लानेवाले स्नानों और अनुत्तेजक आहारके द्वारा सारे शरीरका उपचार होना चाहिए। अगर आरोग्यलाभकी क्रिया साधारण तरीकेसे चल रही हो तो उसमें भी इससे सहायता मिलेगी।

एक आदमीका शरीर तीन जगह बुरी तरह जल गया था। दो बड़े जख्म तो गर्दनपर थे और तीसरा, जो उन दोनोंसे बड़ा और गहरा था, पैरमें था। उस व्यक्तिने पहले पाक-निवारक दवाओंका प्रयोग किया, पर पीड़ा अधिक होनेके कारण उसे एक दिनसे अधिक नहीं जारी रख सका। इसके अनंतर वह पुरानी प्राकृतिक विधिसे अपना उपचार करने लगा। इससे भी कुछ लाभ होते न देख वह मेरे पास आया। पहले मैंने पीड़ा कम करनेका उपाय किया। तेल ओर मवाद साफकर गीली मिट्टी लगानेपर दो ही घंटेमें पीड़ा कम हो गयी और दो ही दिनके उपचारसे जख्मका रंग बिलकुल बदल गया। गर्दनपरका छोटा जख्म तो करीब-करीब अच्छा ही हो गया, शेष दोनों भी तेजीसे अच्छे होते लगे। पैरके जख्मकी गहराई भी आधी कम हो गयी थी। पांच दिनोंमें वह अपने कारखानेमें काम करने योग्य हो गया। गर्दनपरके जख्म तो बिलकुल ठीक हो गये थे और पैरोंका जख्म भी इतना अच्छा हो गया था कि वह किसी तरह चल लेता था।

## गोलीका घाव

इस घावका उपचार भी ठीक वही है जो छुरे आदिके गहरे घावका है, फिर भी युद्ध आदिमें इसके महत्त्वके कारण इसपर विशेष रूपमें विचार करना आवश्यक है। क्षतोंके प्राथमिक उपचारका ज्ञान प्रत्येक सैनिकके लिए बड़े महत्त्वका होता है। किसी तरहकी सहायता मिलनेके पूर्व घंटों पड़े रहनेके कारण बहुतसे जख्मोंमें—विशेषकर पाकनिवारक उपचार होनेपर—सड़ान पैदा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इस हालतमें अगर मृत्यु न हो तो अंगच्छेद तो आवश्यक होता ही है।

जीवनसंबंधी तथ्यों और व्रणके आप-ही-आप, प्राकृतिक रूपमें, ठीक होनेकी बातसे अपरिचित होनेके कारण लाचारीकी हालतमें अंगच्छेदके अलावा सर्जनोंके पास और कोई उपाय नहीं रह जाता, पर अंगच्छेदसे घाव कभी अच्छा नहीं होता, बल्कि और गहरा घाव करना पड़ता है और इस प्रकार आहत सैनिक जीवनभरके लिए विकलांग बना दिया जाता है।

जनसाधारण और डाक्टरोंकी धारणा है कि अगर गोली या इस तरहकी कोई चीज शरीरके अंदर रह गयी है तो शरीरको क्षतिग्रस्त होनेसे बचानेके लिए उसे निकालना आवश्यक है। यह भयंकर भूल है जिसने बहुतोंकी जान ले ली है। शरीरको अधिक क्षति पहुंचाये बिना गोली या इस तरहकी किसी चीजको निकालना कठिन होता है। शरीरके भीतरी भागमें श्लेष्माका एक आवरण होता है जिसे भेदकर गोली आगे बढ़ती है और जिस जगह वह घुसती है वहां उसके गुजरने भरके लायक ही भेदन होता है। कारण यह है कि गोलीके दबानेसे छिदनेवाला भाग फैलनेवाला होनेके कारण ठीक वैसे ही फैलता है जैसे गोली मारनेपर रबर फैल जाता है। अगर रबर फैलाया न जाय तो गोली फिर उस रास्तेसे कभी नहीं निकलेगी।

पहले तो क्षतिग्रस्त स्थानमें सूजन होती है जो प्रायः जल्द ही कम पड़ जाती है, पर उसकी पूर्वरूप ग्रहण करनेकी शक्ति—स्थिति-स्थापकता चली जाती है। क्षतिग्रस्त स्थानपर रक्त और अन्य आरोग्यकारक पदार्थ एकत्र हो जाते हैं इसलिए वह कड़ा पड़ जाता है। अब अगर उसी प्रवेशवाले मार्गसे गोली निकालनेका प्रयत्न किया जाय, जैसा कि किया भी जाता है, तो यह कभी सफल न होगा। क्षतस्थानतकका सारा प्रवेशमार्ग सूज गया होता है और उस भागकी स्थिति-स्थापिकता भी समाप्त हो गयी होती है, इसलिए गोली निकालनेके लिए जख्मको और बढ़ाना पड़ता है। शरीरपर इसका कैसा बुरा प्रभाव होगा, इसका आसानीसे अनुमान किया जा सकता है। बलात् निकालनेकी अपेक्षा गोलीका शरीरमें रहना

कम खतरनाक होता है; क्योंकि शरीर शीघ्र ही इस विजातीय पदार्थ-को अहानिकर बना देनेका प्रयत्न करता है—पहले तो वह एक रससे उसे ढक देता है और फिर उस रसको श्लैष्मिक कलामें परिणत कर उसके ऊपर एक गाढ़ी तह डाल देता है। विषैली पाकनिवारक दवाओंका प्रयोगकर शरीरकी शक्ति नष्ट न की जाय तो वह जल्द या कुछ दिनों बाद उस विजातीय पदार्थ—गोली आदिको बाहर निकाल भी देता है। ऐसा प्रायः हुआ है कि कंधेमें घुसी गोली महीनों या वर्षों बाद कमर या जांघसे निकली है।

गोलीको निकालनेके फेरमें न पड़कर जख्ममें तापका बढ़ना और रक्तका बहाव रोकनेका पहले प्रयत्न होना चाहिए जिसकी विधि पहले ही बतलायी जा चुकी है। इसके लिए प्रत्येक सैनिकके पास कुछ ऊनी और कुछ सूती कपड़ा मौजूद रहना चाहिए जिसमें आवश्यकता पड़नेपर वह स्वयं अपना उपचार कर ले और कोई उपचारका साधन प्राप्त करने-की अपेक्षा जल प्राप्त करना ज्यादा आसान है। अगर वह भी न मिल सके तो ठंढ पहुंचानेवाली कोई चीज—घास, गीली मिट्टी या इस तरह-की कोई चीज—काममें लायी जा सकती है। जख्मपर पट्टीके रूप लगा देनेपर ये चीजें भी ताप-निवारणमें सहायक होती हैं। इस प्रकार बहुतसे आहत सैनिक, जो चल-फिर सकनेमें समर्थ होंगे, अपना प्राथमिक उपचार स्वयं कर ले सकते हैं। अगर प्रत्येक सैनिकको इस प्राथमिक उप-चारका ज्ञान करा दिया जाय तो वह सर्जनके न आनेतक असहाया-वस्थामें कराहते रहनेके बदले चटपट प्रभावकर उपाय कर लेनेकी स्थितिमें हो जायगा और जो सैनिक कम घायल होंगे वे अधिक घायल साथियोंको मदद भी पहुंचा सकेंगे।

१८७०-७१ के फ्रांस-जर्मन-युद्धके समयसे मुझे पाक-निवारक औषधो-पचारके हानिकर परिणामका अनुभव करनेका काफी अवसर मिला है। १८८३ में एक व्यक्ति मेरे पास आया। इसी युद्धमें गोली उदरको पारकर रीढ़के पाससे निकल गयी थी। पाक-निवारक औषधोपचार होते

रहनेपर भी इस तरह सालके लंबे अरसेमें उसका जख्म अच्छा न होकर और बढ़ता ही गया। जख्मका मुंह प्रायः बंद हो जाता, पर फिर खुल जाया करता था। हालत दिनोंदिन खराब होती गयी और अब वह चलने-फिरनेमें भी असमर्थ हो गया था। आकृतिविज्ञानके सहारे तुरंत मालूम हो गया कि घावके जल्द न भरनेका मुख्य कारण अधिक मात्रामें एकत्र विजातीय द्रव्यके साथ जीर्ण ज्वर है। मैंने जख्मका कोई स्थानिक उपचार न कर ठंढ लानेवाले और बाष्पस्नान तथा उपयुक्त आहारद्वारा जीर्ण ज्वरको दूर करनेका प्रयत्न किया। एक ही सप्ताहमें घाव भर गया और तबसे उसका मुंह कभी नहीं खुला है। एक ही पखवारेमें वह आदमी चलने-फिरने भी लगा। मेरी रायसे वह कुछ दिनोंतक उपचार चलाता रहा जिससे शरीर विजातीय द्रव्यसे बिलकुल मुक्त हो गया।

एक सैनिककी फलकास्थि ( घुटनेकी कटोरी ) टूट गयी थी। उसने इसका बहुत उपचार कराया और बीस वर्षोंतक पुरानी विधिसे प्राकृतिक उपचार भी कराया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। पैर कड़ा तो नहीं पड़ा था, पर चलनेमें कठिनाई होती थी। बीस वर्ष बाद उसने मेरा उपचार शुरू किया—इस जख्मके लिए नहीं, सिर्फ इस पद्धतिकी प्रभावकारिताकी जांच करनेके लिए। जख्मी हड्डीमें फिर प्रवाह शुरू होनेपर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ है। यह इस बातका प्रमाण था कि जख्म ठीक तरहसे अच्छा नहीं हुआ है। कुछ दिनोंके उपचारसे प्रदाह जाता रहा। पैरके ठीक होकर साधारण रूपमें काममें आने लगनेपर तो उसका आश्चर्य और बढ़ गया।

## अस्थिभंग

बाहरी आघातसे होनेवाले जख्मोंमें अस्थि या कोमलास्थिका भंग भी है जो बहुत धीरे-धीरे ठीक होता है। डाक्टर लोग साधारणतः इसपर पलस्तरका इस्तेमाल करते हैं, पर मेरे उपाय बिलकुल भिन्न हैं और अधिक प्रभावकर भी होते हैं। मेरे उपचारका प्रभाव ठंढ लानेवाला होता है जो पीड़ा और सूजन दूर न होनेतक कायम रहता है। ठंढ लाने-

वाले स्नानोंको भी नहीं भूलना चाहिए; क्योंकि वे घावको चंगा करनेमें बड़े सहायक होते हैं। इस जलोपचारका त्यागकर पलस्तरका प्रयोग करने-वाला व्यक्ति सुनिश्चित प्राकृतिक नियमके सत्यको अस्वीकार करता है। अगर जख्मवाला भाग कपड़ेकी पट्टीके सहारे ठीक स्थितिमें न रखा जा सके और कोई कड़ा सहारा आवश्यक हो तो लकड़ी, दफ्ती, छाल या इस तरहकी कोई चीज काममें लायी जा सकती है, पर पलस्तर तो कभी लगवाना ही नहीं चाहिए। मेरा उपचार करनेवाले देख सकते हैं कि उससे कितनी शीघ्रतासे पीड़ा कम होती और जख्म ठीक होता है।

तीस वर्षसे एक सज्जनकी बांह कुहनीके पास टूट गयी थी। प्राकृ-तिक उपचारमें आस्था होनेके कारण वे उसपर गीली पट्टी लगाकर जल देने लगे, पर चिकित्सकने पलस्तर लगानेकी राय दी और यह भी कहा कि हाथ कड़ा पड़ जायगा। यह बात पसंद न आनेपर उन्होंने मेरी राय ली। मैंने उन्हें हाथपर तारकी जाली लगाकर दफ्तीका सहारा देने और अपने तरीकेसे जख्मको ठंढा रखते हुए अनुत्तेजक और संयत आहार तथा ठंढ लानेवाले स्नान चलानेको कहा। इन उपायोंका आश्चर्यजनक परिणाम देख पड़ा। चौबीस घंटेमें ही सारी पीड़ा और सूजन चली गयी। एक सप्ताहमें वे कुछ चलने-फिरने योग्य हो गये। दूसरे सप्ताहमें बिना किसी तकलीफके कुर्सी उठा लेने लगे और चार सप्ताहमें भंग बिलकुल ठीक हो गया।

## खुला घाव

युद्ध आदिमें हथियारोंके आघातसे होनेवाले घाव बड़ी शीघ्रता और आसानीसे अच्छे हो जाते हैं, पर शरीरके प्रायः सभी अंगोंमें होनेवाले कष्टकर खुले घावोंका रूप कुछ और ही होता है। इस प्रकारके घावसे निकलनेवाले पूयका संबंध औषधोपचारक उपदंश, कर्कटिका, क्षय या अन्य किसी रोगसे भले ही जोड़ा करें, पर वास्तविकता यह है कि वह है एक ही चीज—वह शरीरके अंदर गलनेकी क्रिया होनेका सूचक है।

एलोपैथी इस प्रकारके घावको औषधोपचारसे अच्छा करनेमें बिलकुल असफल रही है; वह गलनेकी क्रियाका बाहर प्रकट होना रोक दे सकती है या विकारको पुनः शरीरमें लौटा दे सकती है, पर अच्छा नहीं कर सकती। उसके पास इस रोगके प्रतिकारका न तो कोई उपाय है और न योग्यता ही। यही कारण है जिससे घाव ऊपरसे तो अच्छा हुआ देख पड़ता है; पर दूसरे स्थानपर फिर प्रकट हो जाता है और इस प्रकार विकृत पदार्थका स्राव बराबर जारी रहता है। ये घाव बाहरी क्षतोंकी तरह पीड़ा देनेवाले तो नहीं होते, पर उनका अच्छा होना संभव होते हुए भी बहुत कठिन होता है। ऐसे घावोंका किसी गहराईतक पहुंचे हुए जीर्ण रोगोंसे घनिष्ठ संबंध होता है। आये दिन होनेवाली अधिकांश आत्महत्याएं इसी प्रकारकी रुग्ण अवस्थाका परिणाम होती हैं। ऐसे ही अवसरों पर यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य अपनी दैनिक चर्या और रहन-सहनके ढंगमें किस प्रकार नियमित रूपमें प्रकृतिके विरुद्ध आचरण किया करता है। आखिर इस प्रकारके घावका कारण क्या है? मेरा उत्तर तो यही होगा कि यह शरीरमें भरे हुए विजातीय द्रव्य और अच्छा न किये जाकर दबाये हुए रोगका वर्द्धित या चरम रूपमात्र है। यह रूप प्रायः पारा, आयोडिन, पोटैसियम, आयोडाइड, ब्रोमाइड, कुनैन आदि कथित आरोग्यकारक औषधोंके शरीरमें जज्ब होने या घुलनेके कारण प्रस्तुत होता है। शरीरमें विष प्रविष्ट करनेका दूसरा साधन टीका है जिसके कारण मानव-जातिका अधिकाधिक अपकर्ष होता जा रहा है। इसके कारण जीवशक्तिका ह्रास हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप बराबर जमा होता रहनेवाला विकृत द्रव्य मसूरिका या अन्य किसी संक्रामक रोगके रूपमें प्रकट न होकर क्षय, घातकव्रण, उपदंश, अपस्मार, उन्माद आदि रोगोंके रूपमें प्रकट होता है, जो कहीं अधिक भयंकर, जल्द पिंड न छोड़नेवाले और प्रायः असाध्य होते हैं। दुर्भाग्यकी बात है कि औषधविज्ञान जीवशक्तिका रूप भलीभांति नहीं पहचान सका है; अगर पहचान सका होता तो टीके या लेपके जरिये शरीरमें प्रविष्ट करायी जानेवाली दवा-

ओंके विषका हानिकारक प्रभाव, वर्षों बाद प्रकट होनेपर भी, उससे कभी न छिपा रहता। यही दवाएं, जिनके संबंधमें औषधविज्ञानको यह भी निश्चित रूपसे नहीं मालूम है कि वे कहां-कहां पहुंचती और क्या करती हैं, प्रायः वर्षों पहले रोगका बीज बो देती हैं और अंततः यही खुले या बहनेवाले घावका कारण होता है।

यह भलीभांति जानी हुई बात है कि औषधविज्ञान हमेशा नयी-नयी दवाओं और कीटाणुनाशक तथा पाक-निवारक द्रव्योंकी खोजमें लगा रहता है। नयी दवाएं पुरानीसे ज्यादा तेज और अधिक विषैली होती हैं। रोगके प्रकट होनेपर इन दवाओंके जरिये जीवशक्ति कम करनेका प्रयत्न किया जाता है जिससे शरीर उभारकी अवस्था अर्थात् रोगको, जो विकारसे मुक्ति पानेका उसका सबसे बड़ा प्रयत्न है, जारी रखनेमें असमर्थ हो जाता है। बाहरी लक्षणोंके विचारसे तो रोग गायब हो जाता है, पर उसका मूल रूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है; फिर भी एलोपैथी इसे 'आरोग्यलाभ' मानती है। अगर कुछ काल पश्चात् जीवशक्ति कुछ अंशोंमें पुनः लौट आये और वही या कोई दूसरा रोग प्रकट हो तो पहली दवा काम नहीं करेगी और पहले-जैसा प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए और तेज या अधिक विषैली दवाकी जरूरत पड़ेगी। जीवशक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही हलकी दवा इस उभारकी अवस्था—रोग—को दबानेके लिए आवश्यक होगी, पर अगर जीवशक्ति कम हो तो तेज दवाकी जरूरत पड़ेगी। दवाएं प्रायः विषसे ही तैयार की जाती हैं और विष शरीरके लिए विजातीय द्रव्य है। शरीरकी जीवशक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही तेजी और जोरके साथ इस विजातीय द्रव्यको प्रभावहीन बनानेके लिए उसकी ओरसे प्रयत्न होगा। शरीर इसके लिए विषके ऊपर श्लेष्माका आवरण डाल देता है। इसके विपरीत अगर जीवशक्ति कम हो तो शरीरकी शक्तिको उत्तेजित करनेके लिए हलका विष पर्याप्त न होगा। यह शक्ति न्यूनाधिक रूपमें अचेतनावस्थामें पड़ी रहती है और बाध्य किये जानेपर ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। विषको अहानिकर बनानेकी प्रक्रिया धीरे-धीरे ही चलती है।

एक रोगीके उपचारके विवरणसे उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाएगा। एक चिकित्सकका विश्वास था कि उसने पैरमें होनेवाले खुले घावकी एक बहुत अच्छी दवा खोज निकाली है। इसके कारण उसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी थी। दवाका असर इतना गहरा होता था कि घाव थोड़े ही समयमें अच्छा हो जाता था—विकृत द्रव्य शरीरमें लौटा दिया जाता था। एक सज्जन, जिनकी जंघास्थिके ऊपर बहुतसे ऐसे घाव हो गये थे, इस दवाके इस्तेमालसे बहुत जल्द अच्छे हो गये, पर दो साल बाद पुराने घाव फिर निकल आये। वे उसी चिकित्सकके पास गये, पर इस बार उस दवाका जरा भी असर नहीं हुआ। अक्ल काम न करनेपर चिकित्सकने कह दिया कि ये घाव और तरहके हैं, यह पुराना रोग नहीं हैं इसलिए मेरी उस दवासे अच्छा नहीं होगा। औषधविज्ञानकी कैसी दयनीय अवस्था है! प्रमाणपत्रसे रहित प्राकृतिक चिकित्सक जैसे नहीं, बल्कि सनदयाफ्ता चिकित्सकोंके पास पूयका टीका देने (जैसे मसूरिका आदिमें) और अंगोंको, जिनकी असाधारण अवस्थाका उन्हें जरा भी ज्ञान नहीं होता, काटकर निकाल देनेसे अच्छा कोई उपाय ही नहीं है।

खुले या बहनेवाले घावके मूलमें भी वही कारण होता है जो और सब रोगोंका होता हैं—शरीरमें विजातीय द्रव्यका एकत्र रहना। स्रावमें निकलनेवाला पूय विजातीय द्रव्य ही होता है। यह रोगकी परिवर्द्धित अवस्था है। इसका आधार अंदरका असाधारण ताप होता है जिसकी वजहसे विजातीय द्रव्यके खमीर बनने या गलनेकी अवस्था प्रस्तुत हो जाती है। यही अवस्था जीवाणुओंकी वृद्धिमें सहायक हुआ करती है। इसके अनंतर विजातीय द्रव्य तापकी मात्राके अनुसार रूप ग्रहण कर लेता है। अगर यह बात ध्यानमें रहे तो अवस्थामें परिवर्तन लाने और भयंकर जीवाणुओंको नष्ट करनेका उपाय आसानीसे निकल आयेगा। इस तीव्र तापको ही नियंत्रित करना आवश्यक होता है जिसके लिए ठंढ लानेवाले स्नान, वाष्पस्नान और अनुत्तेजक आहार सर्वोत्तम उपाय प्रमाणित होते हैं।

मैंने विभिन्न प्रकारके—क्षय और उपदंशसंबंधी तथा गलनेवाले—घावोंसे पीड़ित अनेक रोगियोंका उपचार किया है। जिनकी जीवशक्ति बहुत अधिक नष्ट नहीं हुई थी और शरीर दवाओंसे विषाक्त नहीं हुआ था उनके घाव जल्द अच्छे हो गये। इन रोगियोंमेंसे एकका मैं यहां जिक्र करूंगा, जिसका रोग बहुत कठिन था और आरोग्यलाभमें साधारणतः जितना समय लगता है उससे कई गुना समय लग गया। उसके पैरमें—टखनेसे घुटनेतक—पास-ही-पास लगभग चालीस गलनेवाले घाव हो गये थे। जो सबसे बड़ा था वह चार इंचवर्ग था। उसमेंसे बराबर बदबूदार पंछे-जैसा पूय निकलता रहता था। कुछ दिनोंके लिए ये घाव अच्छे हो गये थे, पर फिर वहां जोरोंकी खुजली पैदा हुई और वह व्यक्ति सहन न कर खुजलाने लगा जिससे पुराने घावोंके मुंह फिर खुल गये। खुजलीका कारण त्वचामें रुके हुए विकृत द्रव्यका खमीर था जिससे पैरमें प्रदाह उत्पन्न हो गया था। घावोंके नये सिरेसे खुल जानेपर खुजली कम पड़ गयी। पैरका नीचेका सारा भाग गहरे भूरे रंगका हो गया था जो उसके गलनेका सूचक था। अबतकके सारे उपचार विफल हो चुके थे, पैर कटवा देना या सड़ानके फैलनेसे मृत्युका शिकार होना बाकी था। इसी नैराश्यकी अवस्थामें वह मेरे पास आया, हालांकि मेरी पद्धतिमें उसका जरा भी विश्वास नहीं था।

आकृतिविज्ञानके सहारे उसका पाचन खराब होनेका पता फौरन चल गया। वह हलके-से-हलका खाद्य पदार्थ भी ठीक तरहसे नहीं पचा सकता था जिससे रक्तका साधारण रूपमें निर्माण नहीं हो रहा था। फुप्फुस भी अपना काम ठीक तरहसे नहीं कर रहे थे। इन खराबियोंके कारण विकृत द्रव्यका बढ़ना अनिवार्य था। रोगीको जीर्ण विकारसे ग्रस्त होनेका, जो उसके रोगका कारण था, जरा भी गुमान नहीं था जिससे वह समझ भी नहीं सकता था कि केवल पैरका उपचार न कर सारे शरीरका उपचार करना क्यों आवश्यक है। मैंने घावोंपर कपड़ेकी गीली पट्टी लगाकर ऊनी कपड़ेसे ढकने, अनुत्तेजक प्राकृतिक आहार और चार बार

मेहनस्नान चलाने, शुद्ध वायु ग्रहण करने और प्राकृतिक ढंगसे पसीना निकालनेकी राय दी। उसने उपचारका रहस्य न समझ सकनेके कारण आहार और स्नानकी उपेक्षाकर सिर्फ गीली पट्टीका प्रयोग किया। नतीजा यह हुआ कि छह मासतक अवस्थामें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अंतमें अपने मनसे काम न कर उपचार-क्रम ठीक-ठीक चलानेको वह तैयार हो गया। बादके छह मासमें उपचारका अच्छा फल देख पड़ा—घाव कम पड़ गये और बहुतसे छोटे घाव तो बिलकुल अच्छे हो गये, कष्ट देनेवाली खुजली जाती रही और घावोंका बहना भी करीब-करीब बंद हो गया। पाचन और शरीरका स्वास्थ्य काफी सुधर गया और फुफ्फुसोंका विकृत होना भी रुक गया। इन अनुकूल लक्षणोंसे उत्साहित होकर उसने उपचार बड़ी मुस्तैदीसे चलाना शुरू किया। दूसरे वर्षमें घाव नीचेसे हटकर घुटनेके ऊपर आ गये—नीचेके घाव अच्छे हो जाते और ऊपर नये सिरसे निकलते थे। यह अच्छा लक्षण था; क्योंकि रोग उदरकी और क्रमशः बढ़ता जा रहा था। ऊपर घाव निकलना शुरू होनेपर, जहां पहले कभी नहीं निकला था, उसे यह धारणा हुई कि मेरा उपचार भी किसी कामका नहीं है; क्योंकि घाव अब शरीरके मुख्य भागकी ओर बढ़ रहे थे, पर रोगकी वास्तविक स्थिति समझानेपर उसे विश्वास हो गया और उपचार चलाता गया। पूरे तीन वर्षोंमें उसके पाचन और फुफ्फुसोंकी शक्ति पर्याप्त रूपमें बढ़ सकी। घाव हमेशाके लिए अच्छे हो गये और शरीरका साधारण रंग भी लौट आया। इस प्रकार मेरे उपचारसे ऐसे भयंकर घाव भी अच्छे हो गये जिन्हें बड़े-बड़े डाक्टर असाध्य होनेका फतवा दे चुके थे। अबतक उन घावोंके फिर उभड़नेका कोई लक्षण नहीं देख पड़ा।

## सर्प और कुत्तेका विष

मनुष्यके रक्तकण बड़े संवेदनशील होते हैं। विजातीय द्रव्यके संपर्कमें आनेके साथ ही उनकी प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है जिसका परिणाम ठीक खमीर बननेकी प्रक्रिया-जैसा ही होता है। विषैले सर्पके काटनेपर

पूर्णतः स्वस्थ व्यक्तिके रक्तमें भी ज्वरके लक्षण बहुत कुछ वैसे ही प्रकट होते हैं जैसा खमीर बननेपर। अगर शरीरमें पहलेसे विजातीय द्रव्य मौजूद हो तो विषका और गहरा असर होता है। विषके—चाहे वह किसी विषैले कीड़ेका हो या कुत्ते या पूय आदिका—रक्तमें प्रवेश करनेपर विजातीय द्रव्य, जो स्वयं खमीर पैदा करनेवाला होता है, बहुत बढ़ जाता है। शरीरमें विजातीय द्रव्य जितना अधिक होगा विषके प्रवेश करनेपर उतनी तेजीसे खमीर बनेगा। यही कारण है कि जिससे मधुमक्खीका डंक किसीके अंगमें तो बहुत अधिक सूजन पैदा कर देता है और किसीको वह मच्छरके दंशसे अधिक नहीं जान पड़ता। मैंने एक ही कुत्तेको दो व्यक्तियोंको काटते देखा—एकको तो जलातंक (हाइड्रोफोबिया) हो गया, पर दूसरेपर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। सर्पदंशमें भी यही बात होती है—एककी तो मृत्युतक हो जाती है, पर दूसरेको ज्वरसे अधिक कुछ नहीं होता। दंश उतने खतरेका कारण नहीं होता जितनी दंशित व्यक्तिकी अवस्था होती है। तथाकथित सफल शल्यक्रियाके बाद रक्तके विषाक्त होनेका भी प्रायः यही कारण होता है।

मेरे खमीरसंबंधी सिद्धांतसे पागल कुत्तेके काटनेके विचित्र प्रभाव-का भी, जिसमें लालाका विष अदृश्य रूपमें रोगका बीज वपन कर देता है और तीव्र रूप बादमें प्रकट होता हैं, स्पष्टीकरण हो जाता हैं। यह विष पहले उदरकी नाड़ियों और अंगोंको आक्रांत करता है, मस्तिक और भेजेपर इसका प्रभाव कुछ हफ्तोंके बाद ही होता है और तभी इस तथा-कथित जलातंकके तनाव लानेवाले लक्षण प्रकट होते हैं। मैंने प्रायः देखा है कि पागल कुत्तेका पाचन और भूख साधारण अवस्थामें नहीं होती।

निम्नलिखित उदाहरणसे सर्पदंशका प्रभाव भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। एक लड़केके सिरमें एक विषैले सर्पने डंस लिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि उसके उदरमें विकार पैदा हो गया और पंद्रह घंटे पेशाब नहीं उतरा। जान खतरेमें थी। मेरी पद्धतिसे उसका उपचार किया गया

गया और ठंढ लानेवाले स्नान चलाये गये। कुछ ही समयमें उसका खतरा दूर हो गया और पेशाब भी काफी उतरा।

विषम वेशके विभिन्न प्रभावोंपर विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले दंशित स्थानकी सूजन होती है और ताप तथा तीव्र ज्वर मालूम होता है जो पहले स्थानिक ही होता है। ज्वरका शमन करना पहला काम होना चाहिए। इसके लिए उस स्थानपर ठंढ पहुंचाना बड़ा लाभदायक होता है। विषका रूप भयंकर होनेपर दंशित भाग जहांतक रखा जा सकता हो पानीमें रखा जाय और अगर संभव हो तो उसपर पानी गिराया जाता रहे। अगर उस अंगको पानीमें रखना संभव न हो तो उसपर कपड़ेकी गीली पट्टी बराबर लगायी जाती रहे और मेहन तथा कटिस्नान क्रम-क्रमसे चलाये जायं।

## छोटे कीड़ोंका डंक

मक्षिका-दंश आदि छोटे जख्मोंमें सूजन होती है जो थोड़े समयतक रहती है, कोई खास असर नहीं होता। ये कीड़े प्रायः उसी स्थानपर आक्रमण करते हैं जहां विजातीय द्रव्य और जगहोंसे ज्यादा जमा रहता है। ऐसे जख्मोंको अच्छा करनेके लिए कपड़ेकी गीली पट्टी काफी होती है। यह विषको निकालने या उसे श्लेष्मासे आवृत करनेके शरीरके प्रयत्न-में सहायक होती है। अगर सूजन बढ़कर आस-पासके भागोंमें फैलने लगे तो यह खतरेका सूचक होगा और इसका फौरन उपचार करना आवश्यक होगा। वह भाग पानीमें डुबाकर रखा जाय और अगर संभव न हो तो उसपर गीले कपड़ेकी पट्टी लगायी जाय और वाष्पस्नानके बाद मेहन या कटिस्नान कराया जाय। इससे फौरन लाभ होगा। ये स्नान अलग-अलग होने चाहिए और अगर खतरा देख पड़े तो स्नान हर दो या तीन घंटेपर होना चाहिए। इस प्रकार ज्वर कम हो जानेपर आरोग्यकी दिशामें काफी प्रगति हो जायगी। उपवास तो सबसे अच्छा है, पर अगर भोजन भी किया जाय तो पूर्णान्न और फलके सिवा कुछ भी न खाया

जाय। पानी पीना हानिकारक नहीं होगा। ठंढ लानेवाले स्नानोंके बाद शरीरमें गर्मी लानेके लिए धूपमें बैठाया जाय और अगर संभव हो तो मैदानमें व्यायाम कराया जाय। अगर दंशवाला भाग कड़ा पड़ गया हो तो आंशिक वाष्प-स्नानका प्रयोग किया जाय, पर उसके बाद ठंढ लानेवाला स्नान अवश्य कराना चाहिए। वाष्पस्नानसे पसीना निकलनेमें मदद मिलती है जिससे बहुत-सा विजातीय द्रव्य निकल जाता है। ये सारे जख्म ज्वरकी अवस्था प्रस्तुत करनेवाले होते हैं। और हमारा पहला प्रयत्न इसी ज्वरको कम करनेकी दिशामें होना चाहिए।

एक नवयुवकको, जिसकी अवस्था अभी बीस वर्षकी भी नहीं थी, बायें हाथमें एक जहरीले कीड़ेने डंक मार दिया। डंक अधिक कष्टकर नहीं था और सूजन भी कम ही हुई इसलिए उसपर ध्यान नहीं दिया गया, पर कुछ घंटोंके बाद हाथ कड़ा पड़कर सूजने लगा और थोड़ी ही देरमें सारा हाथ सूज गया। फौरन डाक्टर बुलाया गया। उसने इसे रक्तकी विषमयता मानकर हाथ काट देना आवश्यक बतलाया। संयोगवश मेरी पद्धतिसे परिचित एक व्यक्ति वहां मौजूद था और इसी पद्धतिका प्रयोग भी किया गया; क्योंकि हाथ कटवाना मंजूर नहीं था। वाष्पस्नानके साथ कटिस्नान और कभी-कभी केवल कटिस्नान चलाया गया जिससे सूजनका बढ़ना रुक गया। स्नानोंके बीचके समयमें गीली पट्टीका प्रयोग किया गया और पसीना निकालनेके लिए मैदानमें, विशेषकर धूपमें उससे व्यायाम कराया गया। इन सीधे-सादे उपायोंसे डंकका सारा असर जाता रहा और साथ ही स्वास्थ्यको भी लाभ पहुंचा।

# स्त्रियोंके रोग

स्त्रियोंकी शरीर-रचना जटिल होनेके कारण उनको यौन अंगोंसे संबंध रखनेवाले बहुत से रोग हुआ करते हैं और वे प्रायः बहुत कष्टकर भी होते हैं।

रजःस्राव, गर्भधारण, प्रसव, बच्चेका स्तनपान आदि प्राकृतिक क्रियाओंके संबंधमें तो गड़बड़ियां होती ही हैं, इनके अलावा भी कुछ होती हैं जिनका उन्हें प्रायः सामना करना पड़ता है। ये सभी वर्तमान युगकी, जिसमें कामुकता, विलासप्रियता, पथभ्रष्टा आदिकी प्रधानता है, बुराइयोंके परिणाम हैं। ये ही बुराइयां नारी-अंगोंकी हानिकारक जीर्ण अस्त-व्यस्तताकी नींव डाल देती हैं और ये ही सारी असाधारण अवस्थाएं प्रस्तुत करती हैं जिनको ठीक करनेमें औषधोपचारक उलझे हुए हैं, पर कोई फल नहीं निकल रहा है।

स्त्रियोंके रोग आखिर उत्पन्न कैसे होते हैं? रहन-सहनका गलत तरीका, स्वास्थ्यकी ओरसे लापरवाही, खुली हवा में व्यायाम न करना, शरीरकी तात्कालिक आवश्यकताओंकी पूर्तिपर ध्यान न देना, विलासप्रियता और प्राकृतिक मार्गका परित्याग ही इन रोगोंके कारण होते हैं—इनके प्रभाव आपसमें मिलकर स्त्रियोंके कोमल अंगोंको विकृत कर देते हैं। ऐसी हालतमें ये अंग अगर अपनी सहन-शक्ति खोकर रोगोंके शिकार हो जायं तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। ऐसे जीवनका परिणाम अन्यथा हो भी कैसे सकता है? प्राकृतिक नियमोंका सम्यक् रूपमें पालन न करते हुए भी कठिन श्रम करनेवाली किसी स्त्रीके साथ आरामतलबीमें जीवन बितानेवाली नगरकी किसी स्त्रीकी तुलना की जाय तो मेरे कथनकी सचाई भलीभांति स्पष्ट हो जायगी।

आनुवंशिक दोषों और रहन-सहनके गलत तरीकेके कारण स्त्रियोंको

जितने अधिक यौन रोग होते हैं उतना ही अधिक महत्त्व मेरी उपचार-पद्धतिको प्राप्त है जो सफलतापूर्वक इन विभिन्न रोगोंसे निपट सकती हैं। स्त्रियों और लड़कियोंने ही मेरी पद्धतिको विशेष रूपसे अपनाया भी है जिसका एक मुख्य कारण इसका सरल और कम खर्च होना है। स्वास्थ्यकी पुनः प्राप्तिसे उन्हें मेरी पद्धतिमें पूर्ण विश्वास हो गया है और ज्यादा पूछ-ताछ या तर्क-वितर्क किये बिना ही प्राकृतिक सिद्धांतों-पर आधारित मेरी पद्धतिके अद्भुत प्रभावका उन्हें निश्चय हो गया है जिससे वे इसकी कट्टर अनुगामिनी हो गयी हैं।

इसके साथ ही मेरी नयी निदान-पद्धति—आकृतिविज्ञान—ने भी बहुतोंको अपना हिमायती बना लिया है। इसके प्रति स्त्रियोंकी अधिक सहानुभूति होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि इसमें यौन अंगोंकी परीक्षा, जिसे स्त्रियां बहुत नापसंद करती हैं, आवश्यक नहीं होती। फिर भी यह शरीरकी अवस्थाका ठीक-ठीक ज्ञान करा देती है। स्त्रियोंके रोगोंके कारणोंका पता लगाना और गहराईतक पहुंचे हुए किसी रोगको ढूंढ़ निकालना विशेष महत्त्वकी बात है। स्त्रियां और लड़कियां भीषण रोगों-की भी प्रायः उपेक्षा कर जाती हैं; क्योंकि वे डाक्टरी जांचके लिए जल्द तैयार नहीं होतीं। मेरी पद्धतिमें यंत्रोंसे यौन अंगोंकी परीक्षा करनेकी कभी जरूरत न पड़नेसे उन्होंने इसका विशेष आभार माना है।

## रजःस्राव

रजःस्राव संतानोत्पत्तिकी अवस्था बनी रहनेका सूचक है। जबतक गर्भाधान नहीं होता यह स्राव बिना प्रयोजन सिद्ध हुए ही होता रहता है। स्वस्थ शरीरमें यह क्रिया नियमित रूपमें चलती रहती है—इसके कारण न तो कोई कष्ट होता है और न प्रसन्नता ही। अगर इस तरह-की कोई बात हो तो समझना चाहिए कि शरीरमें विकार जमा है।

वर्षोंके अनुभवसे मैं इस परिणामपर पहुंचा हूँ कि यह प्राकृतिक क्रिया

चंद्रमाकी विभिन्न अवस्थाओंसे संबद्ध है। पूर्णतः स्वस्थ स्त्रीका स्राव प्रत्येक पूर्णमासीके समय—अंतके तीन-चार दिनोंमें—और फिर पूरे उनतीस दिन बाद होना चाहिए। जिन स्त्रियोंको इस समय या इसके आस-पास स्राव नहीं होता उन्हें निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिए कि उनके उदरके अंग विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त हैं। विजातीय द्रव्य जितना अधिक होगा उतना ही यह समय पूर्णिमासे हटकर होगा। अगर स्राव दो या तीन सप्ताहपर हो या दो सप्ताहतक जारी रहे तो यह विजातीय द्रव्यकी और भी जीर्णावस्थाका सूचक होगा। यह दुर्भाग्यकी ही बात है कि आज ये दोनों लक्षण आम तौरपर देखे जाते हैं।

प्रकृतिमें हर एक वस्तुमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है—इस मासिक स्रावमें भी चढ़ाव-उतार, वृद्धि-ह्रास हुआ करता है। स्त्रियों और लड़कियोंके लिए रजःस्रावका महत्त्व साधारणतः जितना समझा जाता है उससे कहीं अधिक है। अगर स्त्रियां बुरे और विषम परिणामोंसे भी बचना चाहती हैं तो उन्हें स्राव-कालमें सारी उत्तेजनाओंसे बचते हुए अपनेको बिलकुल शांत बनाये रखना चाहिए। गर्भवती स्त्रियोंके लिए तो इसकी और भी आवश्यकता है। उनके सारे विचारों और कार्योंका भ्रूणकी वृद्धिपर गहरा असर पड़ता है। इस कालमें होनेवाले रोगका परिणाम, जैसा कि मैंने प्रायः देखा है, बहुत भयंकर होता है।

## स्रावकी गड़बड़ी

अगर स्राव बहुत अधिक या बहुत कम हो, बिलकुल हो ही नहीं या अनियमित रूपमें हो तो ये सभी अवस्थाएं शरीरमें विकृत द्रव्य एकत्र होनेके निश्चयात्मक प्रमाण हैं। इस अवस्थाकी पहचान और उपचारमें भी आकृतिविज्ञान हमारी सहायता करनेसे नहीं चूकता। स्रावसंबंधी रोग प्रकट होनेके पहले उदरमें एकत्र विजातीय द्रव्यके कारण पाचन अवश्य ही खराब हो गया होता है। स्रावसंबंधी विकार इस खराबीका ही अवश्यंभावी प्राकृतिक परिणाम है। अगर पाचनका सुधार कर दिया जाय,

आंतोंकी पूरी सफाई हो जाय, और उदरका असाधारण ताप घटा दिया जाय तो सारी गड़बड़ी आप-ही-आप दूर हो जायगी। अबतकके उपचारोंसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है कि मेरे ठंढ लानेवाले स्नान, अनुत्तेजक आहार तथा अन्य उपाय रजःस्रावसंबंधी विकारोंमें बड़े प्रभावकर होते हैं।

स्रावमें निकलनेवाला रक्त शरीरका फाजिल रस है। गर्भाधान होनेपर भ्रूणके पोषणमें इसीका उपयोग होता है। भ्रूणकी वृद्धिके लिए सबसे अधिक संकटका काल पूर्णिमाके आसपासका है जो स्वस्थ स्त्रियोंके स्रावका समय है। मुझे यह भी निश्चय हो गया है कि चंद्रमाकी वृद्धिके समय गर्भाशयसंबंधी रोगोंकी हालत और खराब हो जाती है और इसके विपरीत चंद्रमाके ह्रास-कालमें हालत सुधर जाती है। इन बातोंसे भी यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य प्रकृतिके साथ कितना बंधा हुआ है।

अगर इस विशेषकालके प्रभावके संबंधमें कुछ घटनाओंका यहां उल्लेख किया जाय तो वह पाठकोंको अरुचिकर न होगा। पहली घटना एक गर्भवती स्त्रीकी है जो चूहोंसे बहुत डरा करती थी। एक दिन एक चूहा उसकी खुली बांहपर ठीक उसी समय दौड़ गया जब वह गर्भ न होता तो ऋतुमती हुई होती। उसके मनमें इसका कितना भय था, यह इसीसे समझा जा सकता है कि वह रातको इसीका स्वप्न भी देखने लगी। जब छः महीने बाद बच्चा पैदा हुआ तो उसकी बांहपर चूहेकी आकृति मौजूद थी—आकार तो चूहेका था ही, उसकी दुम भी मौजूद थी। आकृतिवाला सारा हिस्सा बांहकी ही सतहमें ही था, पर वह चूहेके-से भूरे बालोंसे ढका हुआ था।

एक दूसरी स्त्रीको छठा गर्भ था। उसके, उसके पतिके और पांचों बच्चोंके बाल काले थे। गर्भकालमें एक लड़की, जिसका उससे घनिष्ठ लड़कीके बाल घुंघराले, घने और संबंध था, उसके साथ रहा करती थी। चमकीले लाल रंगके थे जैसे बहुत कम देख पड़ते हैं। वह स्त्री इस लड़की-

को बहुत प्यार करती थी और अपनी भावी संतानके बाल भी उसीके-से होनेकी अभिलाषा किया करती थी। रजःस्रावका नियत समय आनेपर उसकी यह अभिलाषा और प्रबल हो जाया करती थी। और स्वप्न भी प्रायः इसीका देखती थी। पांच महीने बाद उसके लड़की पैदा हुई। उसकी शक्ल-सूरत तो माता-पिता-जैसी ही थी, पर बाल ठीक उस लड़कीके-से थे।

एक स्त्री गोदमें छोटा कुत्ता लिये गाड़ीपर जा रही थी। अचानक किसी वस्तुसे आकृष्ट होकर कुत्ता नीचे कूद पड़ा और संयोगवश गाड़ीके पहियेके नीचे आ पड़ा। इस घटनासे उस स्त्रीको इतना आघात पहुंचा कि वह कुत्तेके कुचले हुए सिरका दृश्य नहीं भूल सकी। उसका गर्भ अभी कुछ ही महीनोंका था। छः महीने बाद उसे मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ जिसके सिरकी शक्ल कुचली हुई-सी थी।

एक स्त्रीको ऐसा बच्चा पैदा हुआ जिसका मुंह एक कानसे दूसरे कानतक था। वह जन्म लेनेके थोड़ी ही देर बाद मर गया। इस रूप-विकृतिका कारण यह था कि, वह स्त्री एक अभिनेताका नकाब, जिसका मुंह बहुत बड़ा बना हुआ था, देखकर इस कदर ड़र गयी थी कि वह कई दिनोंतक सो नहीं सकी। यह घटना रजःस्राव वाले कालमें हुई थी। अगर यह बात न होती तो इतना अधिक प्रभाव कभी न हुआ होता।

इन उदाहरणोंसे पाठकोंको यह स्पष्ट हो गया होगा कि बच्चेके लक्षण, स्वभाव आदि माताकी इन भावनाओं और परिस्थितियोंसे कितने प्रभावित होते हैं जो उसके गर्भवती होनेपर स्राववाले समयमें रहती हैं। अगर उसमें विषाद और नैराश्य हो तो ये भाव बच्चोंमें भी शीघ्र या विलंबसे प्रकट हो जायेंगे। क्रोध, भीरुता, साहस, चौर्यप्रवृत्ति, छल, लोभ तथा अन्य भले-बुरे गुण भी बच्चोंमें प्रायः इसी कारण होते हैं।

इन बातोंसे हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि वे सारे बाह्य प्रभाव जो हमारी ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा मस्तिष्कमें पहुंचते हैं, अपनी शक्तिका प्रयोग वहां न कर उदरांगोंपर करते हैं। अगर पाठकोंने हमारे ज्वरसंबंधी सिद्धांत-

का ध्यानपूर्वक अनुगमन किया होगा तो वे भलीभांति समझ जायेंगे कि मैं उदरको ही सारे रोगोंके कारणोंका उत्पत्ति-स्थान क्यों मानता हूं। उपर्युक्त घटनाओंसे मेरे सिद्धांतको, जिसमें उदरको मानवशरीरका प्रमुख अंग माना गया है, बहुत दृढ़ समर्थन प्राप्त होता है।

## गर्भाशयका भ्रंश

यह अस्तव्यस्तता भी उसी सामान्य कारण—गर्भाशयके विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त होनेका परिणाम है। इसमें विकृत द्रव्यसे उत्पन्न आंतरिक ताप और दबावसे गर्भाशय पर्याप्त प्रतिरोध-शक्ति न होनेके कारण बाहर निकल आता है। यह स्थिति ठीक आंत उतरने-जैसी होती है। इस स्थितिका वास्तविक कारण हमारे औषधोपचारकोंको ज्ञात नहीं है। वे कारणकी तहतक तो पहुंच नहीं पाते, योनिमें रबरका छल्ला या 'पेसरी' लगाकर गर्भाशयका बाहर निकलना रोक देते हैं। पेसरीका प्रयोग करनेवाली बहुत-सी स्त्रियोंका मैंने उपचार किया है। उससे कुछ समयके लिए तो मदद मिल जाती है, पर वह कारण नहीं दूर कर सकती। मेरी उपचार-पद्धतिसे विकृत द्रव्य निकल जानेपर आंतरिक दबाव, जो इस भ्रंशका कारण होता है, कम पड़ जाता है जिससे पेसरी इस्तेमाल करनेकी कोई जरूरत ही नहीं रह जाती।

## गर्भाशयका मुड़ना

यह भी उसी प्रकार उदरके आंतरिक तीव्र तापके कारण उत्पन्न हुए तनावसे होता है। उदर विजातीय द्रव्यके भारसे इस कदर ग्रस्त हो जाता है कि गर्भाशय अपने स्थानपर न रहकर मुड़ जाता है। इसका उपचार भी उसी प्रकार होना चाहिए। मेरे उपचारसे प्राप्त सफलताओंसे इस पद्धतिकी उपयोगिता भलीभांति प्रमाणित हो गयी है। शल्यक्रिया या यंत्रों आदिके जरिये इसे ठीक करनेके प्रयत्नसे अंगोंको नुकसान पहुंचता है जो कभी ठीक नहीं होता।

## बंध्यात्व

मुझसे राय लेनेके लिए बहुत-सी स्त्रियां आती और संतान न होनेके कारण अपने विवाहपर जब दारुण मनोवेदना प्रकट करने लगती हैं तो यह बड़े दुःखका विषय होता है; मगर आश्चर्यकी बात तो यह है कि फिर भी वे अपनेको स्वस्थ ही समझती हैं। वस्तुतः यह बहुत बड़ा भ्रम है; क्योंकि बंध्यात्व हमेशा अंगों, विशेषकर यौन अंगों—डिंबकोशों, डिंब-प्रणालियों, गर्भाशय आदिके विजातीय द्रव्यके भारसे बहुत अधिक ग्रस्त होनेका द्योतक होता है। इस प्रकारकी कुछ स्त्रियोंको विजातीय द्रव्यका परिणाम कुछ कम होनेपर गर्भ रह जा सकता है, पर उस द्रव्यके कारण उदरमें जो प्रदाह उत्पन्न होता है वह तनाव पैदा कर देता है जिससे गर्भपात या समय पूरा होनेके पहले ही प्रसव हो जाता है। साधारणतः चौथा महीना पूरा होनेके पहले ही गर्भपात हो जाता है और भावावेश, त्रास, आघात आदि आकस्मिक कारण जो विजातीय द्रव्यको और तेजीसे खमीर बनाते हैं, इसमें सहायक हुआ करते हैं। कमरपट्टी जोरसे कसना भी इसका कारण होता है। देहातमें, जहां स्त्रियां स्वास्थ्यके नियमोंका शहरकी स्त्रियोंकी अपेक्षा अधिक पालन करती हैं, गर्भपातकी बात शायद ही सुनी जाती है। मैं कुछ ऐसी स्त्रियोंको जानता हूं जिन्होंने गर्भके सातवें मासमें नृत्यमें भाग लिया, पर इसका उनके गर्भपर कोई बुरा असर नहीं हुआ। मूल कारण—यौन अंगोंपर मौजूद विजातीय द्रव्यका भार—दूर करनेपर ही गर्भपात रोका जा सकता है। शल्यक्रिया, इंजेक्शन तथा इस प्रकारके अन्य डाक्टरी उपायोंसे, जो स्त्रियोंको बहुत नागवार मालूम होते हैं, अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वे शरीरकी स्वास्थ्यरक्षक आंतरिक शक्तिको इस कदर निष्क्रिय बना देते हैं कि मेरी पद्धतिसे भी आरोग्यलाभ असंभव हो जाता है।

यहां मैं एक बातका उल्लेख कर देना चाहता हूं जो इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अनुभव यही बतलाता है कि गर्भाधानका समय कोई तुच्छ विषय नहीं कि उसपर ध्यान देना आव-

श्यक न हो। जो प्रकृतिमें सर्वत्र देख पड़ता है वही मनुष्यमें भी होता है। प्रातःकाल शक्ति अपनी चरम सीमापर होती है इसलिए वही समय गर्भाधानके लिए सबसे उपयुक्त है। अन्य कालकी रति, उदाहरणार्थ रात्रिकालकी, पति-पत्नीकी नाड़ियोंको निर्बल ही नहीं करती, बल्कि गर्भाधान भी हो जाय तो भ्रूणकी वृद्धि वैसी शक्तिके साथ नहीं होती।

अगर विजातीय द्रव्यका भार बहुत अधिक न हो और शरीरमें कुछ आंतरिक शक्ति मौजूद तो हो बंध्यात्व दूर हो सकता है। मैं अपनी उपचार-पद्धतिसे स्त्रियोंको उनकी आंतरिक अभिलाषा पूर्ण करने योग्य अवस्थामें प्रायः लाता रहा हूँ। एक स्त्रीका विवाह हुए आठ वर्ष हो गये थे। वह संतानके लिए तरस रही थी, पर उच्चकोटिके विशेषज्ञ भी उसकी कुछ सहायता नहीं कर सके। अंतमें वह मेरे पास पहुंची। मैंने उसे बतलाया कि बंध्यात्वका कारण उदरका विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त होना है, इसलिए पहला काम इस विजातीय द्रव्यको निकालना है और केवल इस उपायसे इच्छा पूरी हो सकती है। मैंने दो-तीन बार ठंढ लानेवाले स्नान चलाने, भोजन अनुत्तेजक रखने और रहन-सहनका ढंग प्राकृतिक रखनेको कहा। इन उपायोंसे भार क्रमशः कम होता गया और कुछ ही महीने बाद उसने गर्भ रहनेका शुभ समाचार सुनाया। कष्टहीन प्रसव और स्वस्थ बच्चेके रूपमें मेरी उपचार-पद्धतिकी प्रभावकारिताका और निश्चयात्मक प्रमाण मिला।

## स्तनक्षत और दुग्धाभाव

सर्वाधिक प्राकृतिक होनेके कारण माताका स्तन ही बच्चेके पोषणका सर्वोत्तम साधन है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है जिसकी क्रियाका दुर्भाग्यवश पूरा महत्त्व नहीं समझा जाता और जातिके संवर्द्धनका एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन उपेक्षित रह जाता है। आज बहुतेरी माताएं बच्चेको स्तन-पान करानेमें पूर्णतः या अंशतः असमर्थ पायी जाती हैं, इस-

लिए पूरे अर्थमें वे प्रजनन या जातिका क्रम आगे बढ़ानेके योग्य नहीं मानी जा सकतीं। क्या पशुओंमें इस तरहकी कोई बात कहीं देखनेमें आती है ? क्या बच्चेको दूध न पिलाने या इस कारणसे थनके जख्मी होनेकी बात किसीमें देखी जाती है ? ऐसी कभी नहीं होता। तब मनुष्यमें इस स्थितिके प्रस्तुत होनेका कोई खास कारण अवश्य होगा। इसका एक कारण गर्भाधान होने और स्तनपान करानेके पूर्व स्तनोंकी असधारण पीनता है। यह अच्छी तरह जानी हुई बात है कि जिन स्त्रियोंके स्तन काफी बढ़ गये होते हैं वे या तो स्तनपान करानेमें बिलकुल असमर्थ होती हैं या स्तनपान करानेमें स्तनाग्र (चूचुक) की पीड़ासे उन्हें बहुत कष्ट होता है। कौमार्यमें इस तरहका प्रवर्द्धित स्तन कभी साधारण नहीं माना जा सकता, बल्कि यह तो शरीरमें विकृत द्रव्य अधिक मौजूद होनेका निश्चित लक्षण है।

देहातमें मुझे प्रायः देखनेका मौका मिला है कि स्त्रियोंको न तो प्रसवमें कोई पीड़ा होती है और न स्तनपान करानेमें कोई कष्ट। गर्भाधानके पूर्व या स्तनपान करानेके समय भी उनके स्तन पूर्णरूपमें नहीं बढ़े होते। अगर स्त्री बहुत दुबली-पतली हो तो दुग्धाभाव हो सकता है जो इस बातका सूचक होता है कि विकृत द्रव्य जीर्ण होकर गहराईतक पहुंच गया है। इस अवस्थामें विशेषकर जब उत्तम और पोषक समझा जानेवाला आहार—मांस, सुरा, अंडा, दुध आदि—मिल रहा हो, स्त्रियां दुग्धाभावके कारण बच्चेको स्तनपान करानेमें नितांत असमर्थ होती हैं। इसके विपरीत मैंने प्रायः यह अनुभव किया है कि जो स्त्रियां उपयुक्त और अनुत्तेजक आहार ग्रहण करती हैं और मेरे ठंढ लानेवाले तथा वाष्पस्नानोंका प्रयोग करती हैं उनकी स्तनपान करानेकी अक्षमता दूर हो जाती है और स्तनका क्षत भी अच्छा हो जाता है। एक स्त्रीको तीसरा बच्चा पैदा हुआ था। वह अपने पहले या दूसरे बच्चेको दूध पिलानेमें समर्थ नही हो पायी थी, हालांकि वह चाहती बहुत थी। इस बार उसने प्रसवके पूर्वके कुछ दिनोंतक मेरा उपचार किया और उसकी इच्छा

पूरी भी हो गयी। बच्चेके लिए काफी दूध उतरने लगा। इस तरहकी बहुत-सी स्त्रियोंको मैंने अच्छा किया।

बहुत-सी स्त्रियोंका स्तनक्षत भी मेरे उपचारसे अच्छा हुआ है। यहां एकका उल्लेख किया जा रहा है। एक युवतीके स्तनोंमें प्रसवके कुछ सप्ताह बाद बहुत अधिक सूजन हो गयी। पारिवारिक चिकित्सकने अंतिम उपायके रूपमें उनमें दूसरे दिन चीरा लगानेका प्रस्ताव किया, पर वह स्त्री इसके लिए तैयार नहीं हुई और बड़ी रात गये मुझे बुला भेजा। मैंने उसे बतलाया कि नश्तर बेकार ही नहीं, बल्कि खतरनाक भी हो सकता है और मैं अन्य प्रकारसे कष्टमुक्त करनेमें सहायक हो सकता हूं। वह मेरी रायके मुताबिक चलनेको तैयार हो गयी और रातमें आधे-आधे घंटेका मेहन (उपस्थ) स्नान चार बार किया। दूसरे दिन उसकी हालत बहुत कुछ सुधर गयी और कुछ ही दिनोंमें उसकी अवस्था बिलकुल साधारण हो गयी—रोगका मूल कारण विजातीय द्रव्य उदरसे होकर बाहर निकल गया।

आरोग्य-लाभके ये उदाहरण औषधोपचारकोंके सारे वैज्ञानिक विवेचनोंकी अपेक्षा अधिक स्पष्टताके साथ वास्तविकताका द्योतन करते हैं और इस प्रकारके रोगोंमें भी मेरी पद्धतिकी प्रभावकारिताका अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

## सूतिका ज्वर

हर साल हजारों संपन्न माताएं इस भीषण रोगके, जिसका रूप बहुत कठोर और कष्टकारक होता है; चंगुलमें फंसा करती हैं। इसका भय भी अधिक होता है; क्योंकि मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाली सहायता इसका मुकाबला करनेमें अबतक समर्थ नहीं हो पायी है। इसका प्रकट होना ही शरीरके विजातीय द्रव्यके भारसे विशेष रूपसे ग्रस्त होनेका निश्चित लक्षण है। यह भयंकर ज्वर तभी प्रकट होता है जब शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद हो और वह खमीर बनने लगे। इसलिए सूतिकाज्वर केवल ऐसी स्त्रियोंको हो सकता है जिनके शरीरमें प्रसवके बाद रोगको उत्तेजन

देनेके लिए काफी विजातीय द्रव्य रह गया हो। वह कोई जरूरी नहीं है कि जो रक्त गर्भाशयमें या त्वचाके तंतुओंमें रह गया होगा वह पहले खमीर बन लेगा तब विजातीय द्रव्यमें खमीर पैदा करेगा। इसलिए अगर हम सूतिकाज्वरको दूर करना चाहते हैं तो हमें इसके कारण—विजातीय द्रव्य—को शरीरसे निकालना होगा और यह मेहन (उपस्थ)-स्नानसे बड़ी शीघ्रतासे हो सकता है।

एक स्त्री प्रसवके दूसरे दिन सूतिकाज्वरसे भयंकर रूपमें आक्रांत हो गयी। धायने गर्म पट्टोका प्रयोग किया, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। शरीरमें विजातीय द्रव्यके कारण जो आंतरिक ताप उत्पन्न हुआ था उसका उसे कोई ज्ञान नहीं था जो स्वभावतः ठंढ पहुंचानेपर ही दूर हो सकता था। मेरे कहे मुताबिक चलनेको तैयार होनेपर मैंने पंद्रहसे तीस मिनट-तक रोज चार बार मेहन (उपस्थ) स्नान चलानेको कहा। मैंने पानीका ताप कुछ बढ़ानेको कहा था, पर उसमें उसे झंझट मालूम हुई और उसने पाइपका ठंढा पानी लेकर काम चलाया; हां, और सब बातें कहनेके मुता-बिक ही की गयी। अधिक तापवाला पानी उसके अनुकूल हुआ होता, पर इस ठंढे पानीसे उसे कोई हानि नहीं हुई, उलटे आरोग्य-लाभमें कुछ शी-घ्रता ही हुई। अगर शरीरकी स्वास्थ्य-रक्षिणी शक्ति कम न हुई हो तो ठंढा पानी हमेशा अधिक प्रभावकर होता है। अठारह घंटेमें ज्वर कम हो गया और उसका खतरा टल गया। एक सप्ताहमें तो वह अपना साधा-रण काम-काज करने योग्य हो गयी। मेहन (उपस्थ)-स्नानके अद्‌भुत प्रभावका इसमें एक और प्रमाण मिला। विजातीय द्रव्य मलमार्गकी ओर खिच आया जिससे अन्य ज्वरोंकी तरह ही इसका खमीर बनना गया। कुछ दिनोंतक उपचार चलाते रहनेपर उसका स्वास्थ्य इतना अच्छा हो गया जितना पहले कभी नहीं था। मेरा उपचार डाक्टरोंके उप-चारके ठीक उलटा था। वे सिरपर बर्फकी थैली रखते हैं और उदर गर्म रखनेका प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार जिसे वे कम करना चाहते हैं उसे वे बढ़ाते ही जाते हैं। यह मेरे लिए रहस्य ही बना रहा कि सिरपर ही

बर्फकी थैली क्यों रखी जाती है जो रक्तको उस भागमें खींच लानेका उपाय है। हर एक आदमी जानता है कि सिर विजातीय द्रव्यको बाहर नहीं निकाल सकता, प्राकृतिक मलमार्ग ही उसे निकाल सकते हैं। बर्फ भेजेको ठंढा ही नहीं करती बल्कि उसे कुंठित भी कर देती है। इस अंगके ठंढा पड़तेपर उस ओर रक्त आकृष्ट होकर गर्मी उत्पन्न करता है जिससे बार तो उतनी गर्मी नहीं मालूम होती, पर अंदर जलानेवाला ताप मौजूद रहता है। अगर परस्पर आदान-प्रदानद्वारा दोनों अवस्थाओंमें शीघ्र सामंजस्य स्थापित न हो जाय तो मृत्यु हो जायगी।

एक उदाहरण और। एक दिन एक महिलाने मुझे बुला भेजा जिसे प्रसवके एक ही दिन बाद सूतिकाज्वर हो गया था। प्रोफ़ेसरों और औषधोपचारकोंने उसका उपचार किया, पर ज्वर, जो अब तीव्रसे जीर्ण अवस्थामें परिणत हो गया था, नहीं उतर सका। अंतमें लगभग एक सप्ताह उपचार चलानेपर मस्तिष्क आक्रांत हो आनेसे उसको प्रलाप हो गया जिससे चिकित्सकोंको अनिष्टकी आशंका होने लगी। तार पाकर जानेपर मैंने उसे इसी दयनीय अवस्थामें देखा। पहला काम अन्तर्लीन या जीर्ण ज्वरको हटाना था जिसे मैंने शीघ्र ही कर दिया। कुछ बार एक-एक घंटेका मेहन (उपस्थ)-स्नान उदरका ताप शांत करने और मस्तिष्कको साधारण अवस्थामें लानेके लिए काफी था।

इस अल्पकालमें शरीर विजातीय द्रव्यसे, जो ज्वरका कारण हुआ था, मुक्त नहीं हो सका, फिर भी खतरा टल गया। उसने कुछ दिनोंतक ठंढ लानेवाले स्नान और निर्धारित आहारका क्रम जारी रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि उस समयसे उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है।

# सरल और निरापद प्रसव

प्रकृतिके राज्यमें, शाश्वत नियमोंसे शासित होनेवाले और हमेशा क्रियाशील रहनेवाले इस जगत्में प्रत्येक प्राणीके अस्तित्व धारण करनेकी अवस्था निश्चित है। अगर आप जंगली अवस्थामें रहनेवाले जानवरोंकी, जिनका मनुष्यके संपर्कके कारण पतन नहीं हुआ है, बच्चा जननेकी क्रियापर ध्यान दें तो आप यही पायेंगे कि इसमें उन्हें न तो किसीकी सहायता आवश्यक होती है, न कोई कष्ट होता है और न अधिक समय लगता है। समय निकट आनेपर उनमें भय या घबड़ाहटका कोई चिह्न भी नहीं देख पड़ता। इस प्रकार मनुष्योंके लिए जो क्रिया इतनी खतरनाक होती है वह उसमें बिना किसी कष्टके संपन्न हो जाती है और उनके स्वास्थ्यमें भी इसके कारण कोई गड़बड़ी नहीं आती।

मैंने इन जानवरोंको प्रायः ध्यानसे देखा है और यह पाया है कि बच्चा पैदा करनेके बाद तुरंत उनका रहनेका पुराना ढंग शुरू हो जाता है। अगर बच्चेकी जहांतक हो सके फिक्र रखनेकी बात छोड़ दी जाय तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कुछ हुआ ही नहीं है। प्रकृति अपने मार्गसे कभी पृथक् नहीं होती, यह बात स्वस्थ जंतु-जगत्में स्पष्टतः देखी जा सकती है। मुझे एक लोमड़ीकी घटना याद है। जब उसके दो बच्चे पैदा हो चुके थे तभी एक शिकारीने बाधा डाल दी। वह साधारण अवस्थाकी तरह भाग खड़ी हुई, पर उसे गोली लग गयी। परीक्षा करनेपर उसके पेटमें बच्चा जान पड़ा और पेट काटकर उसमेंसे जीवित बच्चा निकला; तलाश करनेपर पहले पैदा हुए दोनों बच्चे भी मिल गये।

स्त्रियोंमें सरल प्रसव बहुत कम देख पड़ता है। कष्टपूर्ण प्रसव, गर्भ-पात तथा आयेदिन होनेवाली गर्भसंबंधी गड़बड़ियोंको देखकर इसपर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। आज तो धायके अभाव

में प्रसवकी कल्पना भी नहीं की जाती और प्रसवकी क्रिया अब प्राकृतिक-से अधिक कृत्रिम हो गयी है। इसके अलावा बुरे परिणामोंसे बचनेके लिए स्त्रीको प्रसवके बाद भी कुछ दिनोंतक प्रसूतिगृहमें रहना पड़ता है।

अपरिवर्तनशील प्राकृतिक निममोंसे इस कदर दूर जा पड़नेका अवश्य कोई प्रबल करण होगा। यह अन्तर उस अवस्थाका ही परिणाम होगा जो प्राकृतिमक नियमोंके विरुद्ध पड़ती है। स्वयं प्रकृति इस तरहकी कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं करती, उसकी प्रक्रियामें कभी परिवर्तन नहीं होता, मनुष्य ही अज्ञानवश प्राकृतिक नियमोंसे शासित इस शरीरके कार्योंमें हस्तक्षेपकर प्रकृतिके मार्गमें बाधक होता है; मनुष्यके कल्याणकी दृष्टिसे प्रकृतिमें कोई विकार नहीं आया है, स्वयं मनुष्य अपूर्णताकी ओर बढ़ता जा रहा है।

अगर प्राकृतिक नियमोंके उल्लंघनका बदला मनुष्यके विनाशकी ओर अग्रसर होनेके रूपमें मिले तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। प्राकृतिक मार्गसे हटनेपर ही मानव-जातिका ह्रास होने और उसमें विजातीय द्रव्यका भार बढ़ने लगा है और उसकी प्रजनन-क्रियापर भी इसीकी घातक प्रतिक्रिया हुई है। उसका स्वर्ग, उसका भौतिक सुख, जिसकी अनुभूति प्राकृतिक नियमोंके साथ सामंजस्य बनाये रखनेसे प्राप्त होनेवाले पूर्ण स्वास्थ्यकी ही अवस्थामें होती है, अब नष्ट हो चुका है।

उपर्युक्त बातोंसे हम इसी निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि जो स्त्रियां वस्तुतः स्वस्थ होंगी उनका कर्भधारण-काल आरामसे बीतेगा, प्रसव निरापद होगा और बच्चे भी स्वस्थ होंगे। 'स्वस्थसे' हमारा अभिप्राय विजातीय द्रव्यसे पूर्णतः मुक्त होना है। बच्चा भी तभी स्वस्थ होगा जब उसका पिता विजातीय द्रव्यसे रहित होगा। प्रकृति हमेशा भ्रूणका निर्माण माता-पिताके सर्वोत्तम तत्त्वोंसे करनेका प्रयत्न करती है। बच्चों-में रोगके कीटाणुओंके संक्रमणका रूप यह होता है कि अगर गर्भाधानके समय माता-पिताका कोई अंग रुग्ण या विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त हो तो बच्चेका वह अंग पूर्णतः विकसित नहीं होगा। इस प्रकार बच्चा ऐसा

शरीरलेकर संसारमें प्रवेश करता है जिसके अंगोंमें उचित अनुपात नहीं होता। अब अगर बच्चेमें विजातीय द्रव्यकी वृद्धि हो, जो आजकल टीका लगवाने और कृत्रिम आहारके कारण अनिवार्य है, तो विजातीय द्रव्य जिस तरफ सबसे कम प्रतिरोध होगा उसी तरफ बढ़नेकी कोशिश करेगा और इस प्रकार वह अल्प विकसित अंगमें जमा हो जायेगा। यही कारण है जिससे बच्चोंको भी वही रोग हो जाता है जो माता-पितामें रहता है। हां, प्राकृतिक उपचार और प्राकृतिक नियमोंके पालनद्वारा यह विजातीय द्रव्य निकाला जा सकता है और वह अंग स्वस्थ और सशक्त बनाया जा सकता है।

स्वास्थ्यको क्षति पहुंचानेवाले कुछ अन्य कारण भी हैं। प्रकृतिमें कहीं किसी जानवरका बच्चा पैदा करनेके कारण कमजोर या बदशक्ल होना नहीं देखा पड़ता, पर मनुष्योंकी अवस्था बिलकुल भिन्न देख पड़ती है। कुछ स्त्रियोंमें प्रथम प्रसवके बाद ही वार्द्धक्य-जैसी अवस्था आने लगती है या उनकी आकृति बदल जाती है। दोष गर्भ, प्रसव और स्तन-पान करानेकी क्रियाको दिया जाता है। बादके प्रसवमें तो आहार आदि अच्छा होते हुए भी अधिकांश स्त्रियोंका सौंदर्य क्रमशः क्षीण ही होता जाता है।

मैं यहां एक बातका स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहता हूं। वह यह कि मनुष्यको छोड़कर प्रकृतिमें और कहीं गर्भाधानके बाद मैथुन नहीं देखा जाता; बल्कि मादा इसके लिए कभी तैयार ही नहीं होती। यही प्रकृतिका नियम भी है। मैथुनका उद्देश्य गर्भाधान है, विलास नहीं। इस क्रियामें यौन अंगोंकी ओर रक्तका बहाव अधिक होता है। अगर गर्भाधान हो गया है तो भ्रूणकी वृद्धिपर इसका बहुत बुरा असर होता है। स्त्रीको भी इससे क्षति पहुंचती है; क्योंकि प्रकृति भ्रूणको क्षति पहुंचानेवाली सभी चीजोंसे गर्भाशयको बचाना चाहती है। इस प्राकृतिक नियमकी अवहेलनाका फल शरीरकी जीवशक्तिके ह्रास और स्त्रियोंके विभिन्न रोगोंके रूपमें प्रकट होता है।

गर्भके साथ होनेवाली तरह-तरहकी तकलीफें प्रायः प्रकृतिके इसी

नियमके अतिक्रमणका परिणाम हैं। प्रातःकालकी मतली, शरीरका भारी मालूम होना, दांकाका दर्द, रंग बदल जाना, सर्दीके साथ-साथ हरारत, उदासी, नाड़ीका क्षोभ, अभ्यस्त आहारसे ऊबना, बहुत अधिक भूख लगना आदि ऐसी ही तकलीफें हैं। कुछ स्त्रियोंमें ये बातें पैतृक विजातीय द्रव्यके कारण भी हो सकती हैं। स्वस्थ पशुबुद्धि तो गर्भाधानके बाद मैथुनका निषेध ही करती है, पर आजके रहन-सहन और विजातीय द्रव्यके भारके कारण कामवासना इस कदर बढ़ गयी है कि लोग इस प्राकृतिक नियमके पालनकी ओर ध्यान देना आवश्यक समझते ही नहीं।

किसान अच्छी तरह जानते हैं कि पशुओंमें अस्वाभाविक रूपमें बढ़ी हुई काम-प्रवृत्ति किसी रोगकी ही सूचक होती है; मनुष्यका भी यही हाल है जिसे ध्यानसे देखनेवाला आदमी आसानीसे समझ सकता है। क्षयरोगसे ग्रस्त लोगोंकी कामोत्तेजना उदाहरणके रूपमें पेश की जा सकती है। स्वस्थ मनुष्यकी यौनप्रवृत्ति इस अनियंत्रित कामवासनासे बिलकुल भिन्न होती है। शुद्ध यौनप्रवृत्तिमें न तो वासना होती है और न किसी प्रकारका अप्राकृतिक उत्तेजन,वह केवल जातिको कायम रखनेके लिए होती है। इसे ऐसी जरूरत नहीं बना लेना चाहिए कि कुछ समयतक पूरी न होनेपर बेचैनीका कारण हो जाय। जो स्वस्थ है और अनुत्तेजक तथा प्राकृतिक आहारके द्वारा अपने शरीरको शुद्ध रखता है वही इस अवस्थाका अनुभव भी कर ककता है। जो अपनी इच्छाका प्रकृतिकी इच्छाके साथ कभी संबंध नहीं होने देना चाहता, अपने शरीर-पर नियंत्रण रखना चाहता है, जिसमें उसकी योगप्रवृत्ति सीमाके अंदर रहे और उसके मनपर ज्यादा जोर न डाले, उसे प्रकृतिकी ओर अग्रसर होना चाहिए। अगर वह मेरे बतलाये हुए नियमोंका पालन करे और अपने शरीरको विजातीय द्रव्यसे मुक्त कर ले तो उसे संतोष और सुखकी प्राप्ति अवश्य होगी।

आज प्रजननके संबंधमें सर्वत्र तरह-तरहकी अप्राकृतिक बातें देखनेमें

आती हैं—कहीं गर्भपात और अकाल प्रसव होता है, कहीं बच्चेका उलटा या बगलमें जन्म होता है, कहीं बच्चेका सिर बहुत बड़ा होता है और मार्ग बहुत छोटा जिससे कृत्रिम सहायता लिये बिना प्रसव असंभव हो जाता है और कहीं प्रसवमें पेशियोंकी शिथिलताके कारण बहुत अधिक समय लगता है। सारांश यह कि तरह-तरहकी अप्राकृतिक बातें देख पड़ती हैं जो माताके और बच्चेमें संक्रमणसे पहुंचे हुए विजातीय द्रव्यके कारण होती हैं।

गर्भाशयमें बच्चेकी गलत स्थिति मातामें विजातीय द्रव्य होने या उसके अनुपयुक्त कार्य या पेशेके कारण होती है और यह खराबी पूर्वार्द्ध-कालमें ही आती है। विजातीय द्रव्य या अनुपयुक्त कार्यके कारण बच्चा स्थानभ्रष्ट हो जाता है जिससे उदर फैलकर तन जाता है। विजातीय द्रव्यके कारण जनन-मार्गके संकुचित हो जानेपर प्रसवमें कठिनाई होना तो निश्चित ही है। बच्चेमें भी विजातीय द्रव्य अधिक होनेपर उसका आकार, विशेषकर सिर बढ़कर असाधारण हो जाता है। इससे भी प्रसवमें कठिनाई होती है। प्रजननमार्गमें विजातीय द्रव्य जमा होनेपर उसकी पेशियां, कण्डराएं और बंधनियां इस कदर उससे भर जाती हैं कि वे फूली हुई-सी मालूम होती हैं और उनका लचीलापन नष्ट हो जाता है। सरल प्रसवके लिए सारे शरीरका वास्तविक अर्थमें स्वस्थ होना आवश्यक है।

विजातीय द्रव्यका भार होनेपर पेशियोंकी क्रियाशक्तिका ह्रास हो जाता है। अगर जनन-मार्ग इसके कारण संकुचित हो गया हो तो उसपर बहुत अधिक तनाव और जोर पड़ता है जिससे बड़ी पीड़ा होती है। इस प्रकार प्रसवमें अधिक पीड़ा होनेका कारण विजातीय द्रव्यका भार ही हुआ करता है। गर्भके फूलके चिपक जानेका भी यही कारण होता है।

ऐसी हालतमें अगर स्त्रियोंको संतानोत्पत्तिके संबंधमें भय हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। फिर भी यह भय प्राकृतिक नहीं है,

सिर्फ विजातीय द्रव्यके कारण है। जो स्त्री वस्तुतः स्वस्थ है उसे कष्ट-संबंधी भावना नहीं होती। चिंता अंतर्मनकी आवाज है जो प्रायः दबा दी जानेपर प्रसव-जैसे संकटकालमें यह स्पष्टतः बतला देती है कि प्रकृति-के दिये हुए शरीर और स्वास्थ्यका दुरुपयोग किया गया है, पर आज इस आवाजका अर्थ समझता कौन है ? प्रसवमें यंत्रों आदिका प्रयोग अना-वश्यक होते हुए भी जो यह समझते हैं कि बहुत-सी अवास्थाओंमें यह आवश्यक होता है उन्हें निम्नलिखित घटनासे वास्तविक स्थितिका पता चल जायेगा।

छत्तीस वर्षकी अवस्थाकी एक स्त्रीको दूसरी संतान पैदा होनेवाली थी। प्रसव-वेदनामें दो दिन बीत गये थे, पर बच्चा गर्भाशयसे हटनेका नाम ही नहीं ले रहा था। धायकी रायमें सर्जनकी सहायता लिये बिना बच्चेका पैदा होना असंभव था। एक कुशल डाक्टर, जो बच्चा जनवाने में बहुत प्रसिद्ध था, सहायताके लिए बुलाया गया। वह चार घंटेतक तरह-तरहके यंत्रोंका प्रयोग करता रहा, पर कोई फल नहीं हुआ और अंतमें इस निश्चयपर पहुंचा कि बच्चेके पैदा होनेमें मांके लिए खतरा है। वह स्त्री इस डाक्टरी सहायतासे होनेवाली पीड़ा बर्दाश्त करनेसे मर जाना अच्छा समझती थी। डाक्टरसे कुछ करते नहीं बन पड़ा और वह यह कहता हुआ चला गया कि स्त्री बच नहीं सकेगी; क्योंकि बच्चे-का निकलना असंभव है; पर प्रकृतिका निश्चय कुछ और ही था। चौबीस घंटेकी वेदनाके बाद बिना किसी डाक्टरी सहायताके ही—सिर्फ धायकी मददसे—बच्चा पैदा हो गया। कौन अधिक मददगार हुआ—डाक्टर या या सरल प्रकृति ? हां, डाक्टरकी यांत्रिक क्रियाएं अपना बुरा असर डालती गयीं—वह नौ हफ्ते बीमार रही और उसके बचनेकी भी आशा नहीं थी। यंत्रोंके प्रयोगने तो एक प्रकारसे उसे पंगु बना दिया था, पर अंदरकी शक्ति उसके स्वास्थ्य-लाभमें सहायक हुई।

मानव-जातिके चिरकालगत अपकर्षके कारण प्रसवमें ऐसे-ऐसे उप-द्रव हो सकते हैं जिन्हें डाक्टर दूर नहीं कर सकते। मैं अपने अनुभवोंके

आधारपर इस परिणामपर पहुंचा हूं कि ऐसी हालतमें प्रकृतिका ही भरोसा करना अच्छा होता है, उससे बढ़कर कोई मददगार नहीं हो सकता। जननांगोंकी निष्क्रियता या शिथिलता दूर करनेके लिए मेहन (उपस्थ)-स्नानसे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। पेड़ूपर मिट्टीकी पट्टी लगाना भी लाभदायक होता है। सूती कपड़ेपर गीली पट्टी फैला दी जाती है और मिट्टी केलल पेड़ूपर रखकर ऊपरसे ऊनी कपड़ेसे बांध दी जाती है।

घबड़ाकर शल्यक्रियाकी सहायता लेनेसे हजारों स्त्रियां कालक मुखमें जा चुकी हैं। अगर शल्यक्रियाके अंधभक्त डाक्टरोंके बदले सबकी देखभाल करनेवाली प्रकृतिपर ही सब कुछ छोड़ दिया जाय तो पीड़ित माताओंको बड़ी प्रसन्नता होगी और बहुत-से परिवार परेशानीसे बच जायंगे। अगर यंत्रोंका प्रयोग किये बिना प्रसव असंभव जान पड़े तो यह माताका ही दोष है; क्योंकि निरापद प्रसवके लिए तैयारी करनेका अवसर गर्भाधानके समयसे ही उसे प्राप्त था। हां, इसके लिए जो उपयुक्त साधन हैं उनका तथा उनके प्रयोगके उपयुक्त समयका उसे ज्ञान होना आवश्यक है। गत कतिपय वर्षोंमें बहुत-सी स्त्रियोंके संबंधमें इस प्रयोगकी प्रभावकारिता स्पष्ट रूपमें देखी गयी है। आहार-सुधार और मेहन (उपस्थ)-स्नान कभी निष्फल होते नहीं देखे गये। ध्यान देनेकी एक बात हय भी है कि प्रसवके समय कष्टसे छुटकारा पानेकी अपेक्षा पहले ही कष्टके निवारणका उपाय करना ज्यादा आसान होता है।

जो लोग निरापद प्रसव और स्वस्थ बच्चा चाहते हैं उन्हें इस बातका ख्याल रखना चाहिए कि उनका शरीर गर्भाधानके समय स्वस्थ हो; और मनुष्य स्वस्थ भी तभी कहला सकता है जब उसका शरीर विजातीय द्रव्यसे बिलकुल मुक्त होगा।

एक स्त्री मुझसे उपचार करा रही थी जो बहुत दिनोंसे संधिवातसे पीड़ित थी। उसके शरीरमें, विशेषकर उदरमें विजातीय द्रव्य बहुत अधिक जमा था। उसके पांच बच्चे थे और हर एकके जन्ममें उसे बहुत

कष्ट हुआ था। दो-दो, तीन-तीन दिन प्रसव-वेदना जारी रहती और अंतमें लाचार होकर यंत्रोंकी सहायता लेनी पड़ती थी। छठी बार गर्भ रहनेपर उसने मेरे कहनेके मुताबिक रोज दो-तीन बार मेहन (उपस्थ)-स्नान चलाया। परिणाम यह हुआ कि इस प्रसवमें, जो बहुत कष्टकर हुआ होता, उसको कोई तकलीफ नहीं हुई और एक घंटेसे भी कम समय लगा।

उस स्त्रीको इस परिणामका स्वप्नमें भी अनुमान नहीं हुआ था। प्रसवके पहले मैंने उससे यह बात कही भी, पर उसका कहना था कि कष्टहीन प्रसवका कोई उपाय तुम नहीं निकाल सकते। इस बार उसने बच्चेको स्तन-पान भी कराया जो पहले कभी नहीं करा सकी थी। इन सबका कारण प्राकृतिक था—मेरी पद्धतिके बारेमें सुननेपर वह प्राकृतिक ढगसे रहने और नियमित रूपसे ठंढ लानेवाले स्नान चलाने लगी थी। पहले उसके शरीरमें बहुत अधिक विजातीय द्रव्य था जो अब काफी निकल चुका था और इसके फलस्वरूप उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़ गयी थी। इसी प्रकार और स्त्रियोंने मेरी पद्धतिसे अच्छा फायदा उठाया है।

## प्रसवके बाद

जो स्त्रियां वस्तुतः स्वस्थ हैं उन्हें प्रसवके बाद कैसे रहना या क्या करना चाहिए, इस विषयमें कुछ बतलानेकी जरूरत नहीं है। जानवर ही नहीं, असभ्य जातियोंकी स्त्रियां भी प्रसवके बाद तुरंत अपना काम करने लग जाती हैं। सभ्य जातियोंकी स्त्रियोंमें यह बात बहुत कम पायी जाती है। यही नहीं प्रसवके बाद उन्हें कई दिनोंतक सूतिकागारमें रखा भी जाता है। पहले आम तौरपर नौ दिन रखते थे; अब बहुतसे चिकित्सक बारह दिन रखनेकी राय देते हैं। माताकी शारीरिक निर्बलता इसका उतना कारण नहीं होती जितना प्रजननसंबंधी अंगोंका पूर्वरूप ग्रहण करनेमें शैथिल्य। सूतिकागारमें इतने अधिक दिनोंतक रहना निश्चय ही स्वास्थ्यके लिए बहुत हानिकारक होता है। खाद्यके अभिशोषणकी प्रक्रिया मंद पड़ जाती है; क्योंकि शरीरको सक्रियताके अभावमें पाचनक्रिया ठीक तरहसे नहीं हो पाती जो इस कालमें स्त्रियोंको प्रायः होनेवाले कब्जसे प्रमाणित हो जाता है। प्रजननांगोंके पूर्व रूपमें आनेके पहले उठना भी हानिकारक ही होता हैं; क्योंकि इससे उदर बड़ा हो जाता है जैसा कि बहुप्रसवा स्त्रियोंमें प्रायः देखा जाता है। इस खराबीको दूर करनेके प्रश्नपर मैंने बहुत विचार किया है और इसका एक उपाय भी ढूंढ निकाला है जो बहुत प्रभावकर होता है।

प्रसवके बाद स्त्री जबतक आवश्यक समझे आराम करे और कुछ देरतक सो लेना तो और भी लाभदायक होता है। इसके बाद वह अपनेको धो ले। यह काम मेहन (उपस्थ)-स्नानसे मजेमें हो जायगा। स्नानके बाद उदरपर कपड़ेकी पट्टी कसकर लपेट ली जाय। पट्टी छेददार सूती कपड़ेकी हो और कसनेके लिए एक छोरपर डोरी लगी हो। डोरी दरवाजेके कुंडेसे बांध दी जाय और पट्टीका दूसरा छोर उदरपर कसकर

रखते हुए पूरी पट्टी लपेट ली जाय और तब ड़ोरीसे बांध दी जाय। इस उपायसे अंदरके अंगोंको दृढ़ सहारा मिल जाता है जिसकी उन्हें बड़ी जरूरत रहती है। अगर स्त्रीको कमजोरी न मालूम होती हो तो पट्टी

लगाकर वह अपना विस्तर बिना खतरेके छोड़ सकती है। अगर उसे किसी तरहकी परेशानी मालूम हो तो पट्टी तीसरे या चौथे दिनतक लगायी जाय।

पट्टी तीन-चार सप्ताह चलायी जाय। अगर हालत ठीक रहे तो पट्टी लगाने-के अलावा और कुछ करनेकी जरूरत नहीं रहेगी। अगर हरारत हो तो बारी-बारीसे ठंढ लानेवाले स्नान और गीली मिट्टीकी पट्टीका प्रयोग किया जाय। इन उपायोंसे जल्द ही शरीरसे पसीना निकलने लगेगा जिससे ज्वर कम पड़ जायगा और क्षय-पूर्तिकी क्रिया होने लगेगी।

अगर संभव हो तो माता बच्चेको स्तनपान कराये। बेहिसाब खाने-पीने या इस प्रकारके किसी कार्यसे दूध नहीं आएगा, बल्कि इससे दूधका प्रवाह और कम हो जायगा। और समयोंकी तरह इसमें भी प्राकृतिक आदेशका ही पालन होना चाहिए—भूख-प्यास मालूम होनेपर ही कुछ खाया-पिया जाय। आहार भी प्राकृतिक ही होना चाहिए। जो स्त्रियां स्वस्थ हैं उन्हें इसी आहारमें पर्याप्त और बढ़िया दूध उतरेगा।

## बच्चोंका लालन-पालन

अगर हम प्रकृतिके मार्गका अनुसरण करें और माता तथा संतानके संबंधपर ध्यान दें तो हम इसी निष्कर्षपर पहुंचेंगे कि इन दोनोंमें दीर्घकाल तक घनिष्ठ संबंध बना रहना चाहिए। आरंभिक वर्षोंमें तो यह संबंध और भी गहरा होना चाहिए, क्योंकि बच्चेको गर्मीकी आवश्यकता रहती है। बच्चेको मातासे पृथक् कर स्वास्थ्यके लिए लाभदायक उष्णतासे वंचित करना बहुत बड़ी भूल है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि आजकल अधिकांश स्त्रियां इस महत्त्वपूर्ण विषयकी ओर ध्यान नहीं दे रही हैं।

एक परिवारमें बुलाये जानेकी बात मुझे याद है। बच्चेकी अवस्था तीन सप्ताहकी थी और वह पालनेमें शांतिसे नहीं लेट रहा था। माता बहुत चिंतित थी, इस कारण और भी बच्चेका पाचन खराब हो गया था। माताकी प्राकृतिक उष्णता और रोज तीन बार मेहनस्नानसे बच्चेको फिर आराम मिलने लगा और स्वास्थ्य साधारण हो गया।

### बच्चेका पोषण

आजकल अधिकांश माताएं बच्चेको स्तनपान कराने योग्य नहीं होतीं या उन्हें दूध ही बहुत कम उतरता है। यही कारण है जिससे आजकलके बच्चोंका अच्छा विकास नहीं हो रहा है। माताका दूध न मिल-नेपर बच्चेका सबसे अच्छा आहार धायका दूध होता है, पर इससे बच्चेके स्वास्थ्यका ठीक रहना निश्चय नहीं है; क्योंकि धायका स्वास्थ्य ठीक न रहनेपर बच्चेमें माता-पितासे जो विजातीय द्रव्य आया होगा वह और बढ़ जायगा। हां, धायके स्वास्थ्यकी परीक्षा आकृति-विज्ञानद्वारा कर ली जा सकती है, पर वस्तुतः स्वस्थ धायका मिलना बहुत मुश्किल है। अधिकतर बच्चोंको कृत्रिम आहार ही दिया जाता है, पर न तो खाद्य पदार्थ का अच्छा चुनाव होता है और न वह ठीक तरहसे तैयार ही किया जाता

है। अगर गायका दूध दिया जाय तो वह सिर्फ कुनकुना कर लिया जाय, उबाला न जाय, क्योंकि उबला हुआ दूध पचनेमें कठिन होता है। उसके जीवाणुओं या कीटाणुओंको नष्ट करनेकी बातका कोई महत्त्व नहीं है।

जो पदार्थ आसानीसे पचते हैं उन्हींसे अधिक पोषण मिलता है। अगर पाचनकी अवस्था ठीक रहे तो पाचकरसमें शरीरको क्षति पहुंचानेवाले सारे पदार्थोंको नष्टकर निकाल देनेकी पर्याप्त शक्ति होती है। कच्चा दूध पचनेमें बहुत हलका होता है, पर उबला हुआ दूध पाचन-प्रणालीमें बहुत देरतक टिका रहता है और इस प्रकार पोषण प्रदान करनेकी अपेक्षा खमीर बननेकी अवस्था अधिक अत्पन्न करता है। यही अवस्था अधिकांश बालरोगों और बच्चोंकी बढ़ती हुई मृत्यु-संख्याका कारण होती है। बच्चोंके लिए तैयार किये जानेवाले तरह-तरहके खाद्य पदार्थ और उनके सार बच्चोंका पाचन खराब कर देते, आमाशय फैला देते और पाचनमें बाधा डालकर उनमें बेचैनी पैदा कर देते हैं।

वैज्ञानिकोंके बतलाये हुए तरीकेसे उबालकर विसंक्रमित किया हुआ दूध भी, जिसे देनेकी चिकित्सक राय देते हैं, साधारण रूपमें उबाले हुए दूधके समान ही हानिकारक होता है। ये वैज्ञानिक दूधको उबालकर जिस चीजको नष्ट करनेको कहते हैं वस्तुतः वही दूधको सुपाच्य बनती है। पाचन-प्रणालीमें पहुंचनेके साथ ही दूधका पचना शुरू हो जाना चाहिए। बच्चेके मुंहमें जानेके पहले दूधका वायुके संपर्कमें आना प्रकृतिमें कहीं नहीं देखा जाता। दूध पोषक रसके सिवा और कुछ नहीं है, इसलिए वह स्तनसे निकलकर सीधे बच्चेके मुंहमें जाना चाहिए, वायुके साथ उसका संपर्क नहीं होना चाहिए। वायुके संपर्कमें आनेके साथ ही उसमें परिवर्तन होने लगता है जिसका बच्चेके पालनपर बहुत बुरा असर होता है। तुरंतके दुहे हुए दूधमें जो थोड़ा परिवर्तन होता है, उसका विशेष महत्त्व नहीं है। गायमें भी विजातीय द्रव्यका होना संभव है, इसलिए सावधानी बरतना अच्छा है। यह समझना भूल है कि घरके अंदर खूब खाकर पली हुई गायका दूध बहुत अच्छा होगा। इस तरहकी गायका शरीर विजातीय

द्रव्यके कारण फैला हुआ होता है और इसका बुरा असर दूधमें भी मौजूद रहता है।

लोगोंको यही विकृत दूध पीना पड़ता है; क्योंकि सभ्य देशोंमें स्वस्थ गायें बहुत कम देखनेमें आती हैं। गायके दूधके बदले जईका मांड़ मजेमें काममें लाया जा सकता है। बिना सुखायी हुई जईका मांड़ निकाल लिया जाय और उसमें चीनी, मक्खन या नमक—कुछ भी न मिलाया जाय। टिकाऊ बनानेके लिए जई सुखा दी जाती है और वही बाजारमें मिलती है। ऐसी जई बच्चोंके लिए ठीक नहीं होती; क्योंकि सुखानेसे उसकी सुपाच्यता नष्ट हो जाती है। अगर हरी जई न मिले तो छंटी हुई साधारण जईका दलिया उबालकर मांड़ निकाल लिया जाय।

खेदकी बात है कि अधिकांश माता-पिताओंको बच्चोंका पालन-पोषण भारस्वरूप और कष्टकर जान पड़ता है। बच्चे कुछ सीखते नहीं उनका ध्यान हमेशा किसी दूसरे विषयपर लगा रहता है; अशिष्ट, क्रोधी और चिड़चिड़े होते हैं, फिर भी मां-बाप और शिक्षक उनके लिए तरह-तरहकी परेशानियां उठाते रहते हैं; उनके शिक्षणका कार्य कठिन होनेका कारण उनकी समझमें नहीं आता, सारा दोष उम्रके मत्थे मढ़ दिया जाता है। अगर बच्चेके शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद हो तो उसके मस्तिष्क तथा अन्य अंगोंकी क्रियापर उसका बुरा असर होगा और उसमें परिवर्तन आ जायगा; पर शरीरके विजातीय द्रव्यसे मुक्त हो जानेपर स्वाभाविक स्वास्थ्य फिर लौट आयेगा। मैंने प्रायः देखा है कि जिन बच्चोंका पालन बुरे तरीकेसे हुआ है वे भी मेरे उपचारसे बड़े शांत और शिष्ट बन गये हैं; जो लड़के कुछ भी नहीं पढ़ सकते थे और घंटों प्रयत्न करके भी अपना हलकेसे-हलका पाठ तैयार नहीं कर पाते थे उनमें विजातीय द्रव्य निकल जानेपर पूर्ण परिवर्तन हो गया— जल्द समझने और सीखनेकी योग्यता आ गई, सुस्ती और आलस्य जाता रहा और पुनः माता-पिताके लिए आनंदके साधन बन गये। जो व्यक्ति स्वस्थ बच्चोंके पालनमें प्राप्त होनेवाले आनंदसे परिचित हैं और जानते हैं कि उसमें कितना कम झंझट और कष्ट है वे इस

आनंदको लानेवाली अवस्था प्रस्तुत करना कभी न भूलेंगे। मेरी उपचार-पद्धति और आकृतिविज्ञानका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक माता-पिताका कर्त्तव्य होना चाहिए। बच्चेके शरीरमें विजातीय द्रव्य आनेपर आकृति-विज्ञानके सहारे उन्हें फौरन उसका ज्ञान हो जायगा।

एक बात और है जो इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसका उल्लेख न करना ठीक न होगा। मेरा अभिप्राय लड़कोंमें बढ़ती हुई काम-प्रवृत्ति और उसके स्वाभाविक परिणाम हस्तमैथुनसे है। खेदकी बात है कि लड़कोंके इस दोषका मूल कारण अभीतक उचित रूपमें नहीं समझा गया है। लोग मिथ्या लज्जासे प्रेरित होकर ऐसी बातोंकी चर्चा बिलकुल दबा दिया करते हैं। इस रवैयेसे तो इस बुराईका कभी अंत ही नहीं होगा। जो लोग दुनिया-का सुधार करना चाहते हैं उन्हें उसकी बुराइयोंको खुल्लमखुल्ला कहना चाहिए। देहातमें, जहां प्रकृतिके साथ आचार-व्यवहारका मेल है, यह बात बहुत पहले ही समझ ली गयी है कि जानवरोंमें अनुचित कामोत्तेजना विकारकी ही सूचक होती है। मनुष्य भी उन्हीं नियमोंके अधीन है, भले ही कुछ लोग प्राकृतिमें मनुष्यका विशिष्ट स्थान मानकर अपने लिए विशेष नियम मानते रहें।

हस्तमैथुन यौन अंगोंके विजातीय द्रव्यसे ग्रस्त होनेका स्पष्ट चिह्न है। अगर यह विकृत द्रव्य धीरे-धीरे शरीरसे निकाल दिया जाय तो यह अप्राकृतिक इच्छा भी आप-ही-आप दूर हो जायगी। यौन अंगोंको छेड़ने-के कारण बच्चोंको बेत लगाना, जैसा कि प्रायः हुआ करता है, बिलकुल बेकार है। लगातार होनेवाला उत्तेजन या क्षोभ दूर करनेके लिए उनके मूल कारण—विजातीय द्रव्य—को दूर करना आवश्यक है। बच्चोंकी इच्छा-शक्ति बढ़ाकर भी यह रुकवाया जा सकता है, पर इस हालतमें अंदरकी प्रेरणा बनी रहेगी और जबतक कारण दूर नहीं होगा तबतक उससे छुटकारा नहीं मिल सकेगा। इस रोगके उपचारसे प्राप्त विस्तृत अनुभव-के आधारपर मैं इसी निष्कर्षपर पहुंचा हूँ कि मेरे ठंढ लानेवाले स्नानोंके

साथ अनुत्तेजक आहार और रहन-सहनके प्राकृतिक ढंगसे बढ़कर इसका कोई उपचार नहीं है। इस प्रकार मेरी पद्धति बच्चोंमें नैतिकता लानेका बहुत अच्छा साधन है और यह इतने महत्त्वका विषय है कि इस तथ्यको समझना अपना मुख्य कर्तव्य मानना चाहिए।

# प्राकृतिक चिकित्सा क्या है ?

रोज-ब-रोज डाक्टरोंकी तादाद बढ़ रही है और साथ-साथ अनगिनत ओषधियोंकी, पर आंख उठाकर देखें तो हर आदमी आपको किसी-न-किसी रोगके चंगुलमें फंसा मिलेगा । इससे साबित होता है कि दवाएं आदमीको न तंदुरुस्त रख सकती हैं, न कर सकती हैं ।

प्राकृतिक चिकित्सकोंने तजुरबेसे जाना है कि रसायन और दवाएं रोगको अच्छा करना तो दूर रहा, उल्टे रोगको—उसके कुछ लक्षणों-को—कुछ वक्तके लिए दूर करके, बाहर निकलते हुए रोगको शरीरके भीतर दबा देती हैं । जैसे गांवमें कूड़ा-कचरा इकट्ठा होकर बीमारी फैलाता है वैसे ही शरीरकी गंदगी निकल न पानेपर अंदर सड़ने लगती है और वही गंदगी सब रोगोंकी जड़ है ।

गलत भोजनकी वजहसे पैदा हुई सड़न, अपच, दवाओंके जहर, इंजेक्शन, टीका वगैरह इस गंदगीको बढ़ाते हैं ।

शरीरसे गंदगी निकालनेकी कुदरतकी कोशिश ही रोग है, और रोगके लक्षण इस कोशिशका कुदरती नतीजा है । कुदरती इलाज इस गंदगीको शरीरसे निकाल फेंकनेमें पूरी मदद पहुंचाता है और मनुष्यको स्वस्थ, सशक्त एवं सतेज बनाता है ।

कुदरती इलाजके मददगार हैं उपवास, फलाहार, संतुलित भोजन, पानी, मिट्टी, धूप, प्राणायाम, आसन, कसरत और मालिश वगैरह, जिनसे रोग दबते नहीं; बल्कि जड़से नेस्त-नाबूद होते हैं ।

## आरोग्य-मंदिर

इन्हीं सिद्धांतोंके अनुसार चिकित्साकी सुविधा देनेके लिए आरोग्य-मंदिरको स्थापना की गयी है । विशेष जानकारीके लिए आरोग्य-मंदिरका परिचय-पत्र मंगानेकी कृपा करें ।

# आरोग्य-ग्रंथमाला

प्राकृतिक चिकित्साके प्रसारकी दृष्टिसे आरोग्य-ग्रंथमालाका प्रकाशन शुरू किया गया है। इसमें हिंदुस्तानके अनुभवी प्राकृतिक चिकित्सकों-की पुस्तकोंके साथ-साथ विदेशके प्राकृतिक चिकित्सकोंकी पुस्तक भी होंगी। ये सब हम मूल या सारांशरूपमें हिन्दी-भाषी जनताको अच्छे रूपमें और सुलभ मूल्यमें देना चाहते हैं।

१—**रोगोंकी नयी चिकित्सा**—आपके हाथमें है। शेष पुस्तकोंका परिचय लीजिए।

२—**प्राकृतिक जीवनकी ओर**—लेखक—एडोल्फ जस्ट, अनुवादक—श्रीविट्ठलदास मोदी। मिट्टी, पानी, धूप, हवा और भोजनकी सहायतासे नये, पुराने सभी रोगोंको दूर करने तथा स्वास्थ्यको बढ़िया बनानेकी विधि सिखानेवाली दुनियाकी सरलतम पुस्तक। मूल जर्मनसे अबतक इसके १४० भाषाओंमें अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। बढ़िया गेट अप। मूल्य छह रुपये।

३—**रोगोंकी सरल चिकित्सा**—लेखकः श्रीविट्ठलदास मोदी—रोगोंकी हर घरमें चल सकने लायक सरल चिकित्सा बतानेवाली अनुभव-के आधारपर लिखी गयी प्रामाणिक पुस्तक। मूल्य दस रुपये

४—**जीनेकी कला**—लेखक : श्रीविट्ठलदास मोदी। यह पुस्तक आपका मानसिक बल बढ़ायेगी, स्मरणशक्ति तीव्र बनायेगी, चिंताओंसे मुक्त करेगी तथा आपके सामने वे सारे रहस्य खोलकर रख देगी जिनके जाननेके कारण वह व्यक्ति, जिसे आप बड़ा कहते हैं, बड़ा बना है। मूल्य चार रुपया।

५—**उपवाससे लाभ**—सम्पादक : श्रीविट्ठलदास मोदी। उपवास-की महिमा, उपवास करनेकी विधि और रोगोंके निवारणमें उपवासका स्थान बतानेवाली पुस्तकके रूपमें एक धर्मगुरु। मूल्य चार रुपया।

६—**आदर्श आहार**—भोजनसे स्वास्थ्यका क्या संबंध है और भोजनमें थोड़ा-सा हेर-फेर करके रोगका निवारण कैसे किया जा सकता है, यह विशद रूपसे बतानेवाला एक ज्ञानकोष। मूल्य ३ रु० ।

७—उठो!—ले० स्वामी कृष्णानंद। इस पुस्तकको पढ़ें और दुःख, परेशानी और मुसीबतोंसे छुटकारा पाकर जीवनको सरल बनायें। मूल्य केवल २ रुपया।

८—बच्चोंका स्वास्थ्य और उनके रोग—बच्चोंको रोगमुक्त करना बहुत सरल है और उन्हें स्वस्थ रखना और भी सरल। यह पुस्तक आपके सामने बच्चोंके रोग और उनके स्वास्थ्यका विषय बिलकुल स्पष्ट कर देगी। मूल्य ५) रुपया।

९—सर्दी-जुकाम-खांसी—लेखक—डाक्टर रैस्मस अल्सेकर, एम० डी०। इन रोगोंकी चिकित्सा, कारण, उनसे बचनेका रास्ता बतानेवाली एक अपूर्व पुस्तक। मूल्य २ रु०।

१०—योगासन—लेखक आत्मानंद। योगासन हिंदुस्तानके ऋषियोंद्वारा संस्कृत प्राचीनतम प्रणाली तो है ही, यह दुनियाकी मानी हुई श्रेष्ठ व्यायाम-प्रणाली भी है और स्वास्थ्य-संवर्धनके साथ-साथ रोग-निवारणमें भी अद्वितीय है। योगासनकी विधियां और योगासन इस सचित्र "योगासन द्वारा सीखिए और योगासनोंद्वारा रोग-निवारणकी कलाकी जानकारी प्राप्त कीजिए। मूल्य केवल ४)।

११—कच्चा खानेकी कला—लेखक : डा० सत्यप्रकाश। भोजन-शास्त्रियोंका मत है कि स्वास्थ्यको उत्तम बनाये रखनेके लिए मनुष्यके भोजनमें ५०% ऐसे खाद्य होने चाहिए जो आगके संपर्कमें न आये हों। यह क्यों ओर कैसे? इसका उत्तर इस पुस्तकसे लें। मूल्य दो रुपया।

१२—तंदुरुस्त कैसे रहें?—बर्नर मैकफैडेन विश्वके माने हुए स्वास्थ्य शिक्षक और शीर्ष प्राकृतिक चिकित्सक हैं। इन्होंने स्वास्थ्यके विविध अंगोंपर ८० पुस्तकें लिखी हैं और आठ भागोंमें एक स्वास्थ्यसंबंधी विश्व-कोषका संपादन किया है। उनकी श्रेष्ठतम पुस्तक वाइटैलिटी सुप्रीम (Vitality Supreme) का अनुवाद तंदुरुस्त कैसे रहें? नामसे हम भेंट कर रहे हैं। इसे पढ़ें, स्वास्थ्यका राजमार्ग आपके लिए प्रशस्त हो जायगा। ल्मूय पांचरुपया।